गिजुभाई ग्रंथमाला-17

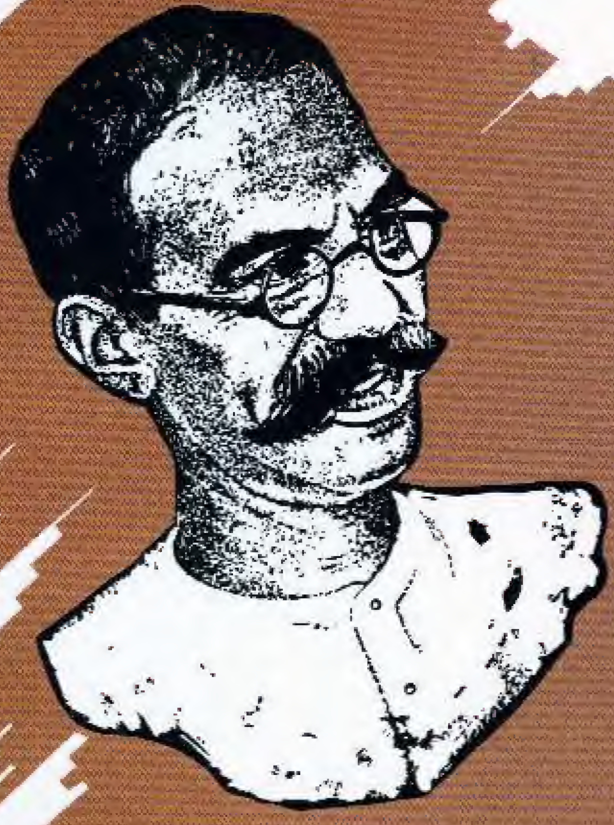

चलते-फिरते

गिजुभाई

गिजुभाई-ग्रंथमाला-17

चलते-फिरते

लेखक
गिजुभाई

अनुवाद
रामनरेश सोनी

मोंटेसरी-बाल-शिक्षण-समिति
राजलदेसर (चूरू) 331802

© विमलाबहन बधेका
दक्षिणामूर्ति-बालमन्दिर
भावनगर 364002 (गुजरात)

प्रकाशक :
मोंटेसरी-बाल-शिक्षण-समिति
राजलदेसर (चूरू)

प्रकाशन वर्ष : 2006 ई.

मूल्य : तीस रुपये मात्र

मुद्रक :
सांखला प्रिण्टर्स
शिवबाड़ी रोड, बीकानेर 334003

प्रकाशकीय

हमारे साथियों ने जब यहाँ पर सन् 1954 में अभिनव बालभारती नामक संस्था स्थापित की थी, तभी मेरे जेहन में बाल-शिक्षण के साथ ही साथ अध्यापकों को प्रशिक्षण देने का विचार भी उठ रहा था, बल्कि अभिभावकों द्वारा प्रशिक्षण लेने का विचार भी मेरे मन में बहुत प्रबल था। मैं सौभाग्यशाली रहा कि एक बार कलकत्ते में मुझे प्रख्यात बाल-शिक्षाविद् स्व. के. यू. भामरा से प्रशिक्षण लेने का अवसर मिला, सन् 1958-59 में।

उस प्रशिक्षण ने मेरे इस चिंतन की दिशा को और भी पुष्ट कर दिया कि बाल-शिक्षण के लिए अध्यापकों का ही नहीं, माता-पिताओं का भी नजरिया बदलना जरूरी है। मेरे आग्रह पर स्व. के. यू. भामरा यहाँ पधारे और सन् 1962 में उन्होंने मोण्टीसोरी प्रशिक्षण का काम शुरू किया। आज 25 वर्षों से अध्यापकों के शिक्षण-प्रशिक्षण का कार्यक्रम यहाँ जारी है और अब तक लगभग 200 अध्यापक प्रशिक्षण का लाभ हासिल कर चुके हैं।

मैं अब भी बराबर अनुभव करता रहा हूँ कि अध्यापक बनने के लिए मोण्टीसोरी-शिक्षण का प्रशिक्षण लेना एक बात है, और बच्चों के माता-पिता बनने के लिए प्रशिक्षण लेना एक अलग अहमियत रखता है। मेरी पत्नी और दोनों पुत्रियों ने महज इसी इरादे से प्रशिक्षण लिया था। मैं चाहता हूँ कि अभिभावकों को इस दिशा में प्रेरित किया जाना जरूरी है। इसी इरादे से पिछले दिनों हमने संस्था में 'अभिभावकत्व-शिक्षण' पर एक संगोष्ठी भी आयोजित की थी। संगोष्ठी में बाल-शिक्षण के अछूते पक्षों पर तो रोशनी डाली ही गई, संस्था के लिए एक सुझाव भी सामने आया कि माता-पिता की शिक्षा के लिए शैक्षिक-साहित्य प्रकाशित कराया जाए। हमने इसे स्वीकार किया, और पहला कदम यह उठाना ज़रूरी समझा कि देश के महान बाल-शिक्षाविद् स्व. गिजुभाई बधेका की गुजराती भाषा में लिखी हुई पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद करवाकर पुस्तकाकार प्रकाशित करें। इस दिशा में इंदौर के महान गाँधीवादी चिंतक एवं मध्य भारत के प्रथम शिक्षामन्त्री श्री काशिनाथ त्रिवेदी का हमें अभूतपूर्व सहयोग एवं प्रोत्साहन मिला। स्व. गिजुभाई की अनेक पुस्तकों का वे सन् 1932-34 के कार्यकाल में ही अनुवाद कर चुके हैं, और शेष

का भी अनुवाद करने का उनका संकल्प है। इसी दिशा में मुझे 'शिविरा-पत्रिका' के संपादकीय सहकर्मी श्री रामनरेश सोनी का भी सहयोग मिला है।

पुस्तक-प्रकाशन का काम अपने काम में बहुत कठिन होता है, विशेषतया अर्थ के अभाव में तो असम्भव-प्राय हो जाता है। पर हमारा सौभाग्य है कि मेरे अनुरोध को यशस्वी दानदाताओं ने स्वीकार किया, और प्रत्येक पुस्तक को अकेले अपने ही आर्थिक-सहयोग से छापने का भार वहन किया है।

इस पुस्तक की 'भूमिका' के लिए हमने सर्वश्री भारतभाई पाठक से एवं 'शिविरा' 'नया शिक्षक' के पूर्व वरिष्ठ सम्पादक श्री भवानीसंकर व्यास से अनुरोध किया था। दोनों ने क्रमशः 'अभिनंदनीय प्रयास' एवं 'सहचिंतन का सुख' शीर्षक से अपने विचार व्यक्त किए हैं, इसके लिए मैं दोनों का हार्दिक आभारी हूँ।

इस पुस्तक के प्रकाशन के साथ ही हिन्दी में गिजुभाई ग्रंथमाला प्रकाशित करने का हमारा संकल्प पूरा हुआ। पर बाल-शिक्षण से संबंधित महत्त्वपूर्ण कृतियों का प्रकाशन-क्रम हम जारी रखना चाहेंगे। गिजुभाई ग्रंथमाला के प्रकाशन से इस दिशा में हमारे भीतर नई प्रेरणा जागी है, आशा है हमारी आगामी कृतियों का भी इसी भाँति स्वागत होगा।

मोण्टीसोरी-बाल-शिक्षण-समिति —कुन्दन बैद
राजलदेसर 331802

संपादक का निवेदन

हिन्दी में गिजुभाई ग्रंथमाला का अवतरण

अपने जन्म से पहले अपनी माँ के गर्भ में, और जन्म के बाद अपने माता-पिता और परिवार के बीच, हमारे निर्दोष और निरीह बच्चों को हमारी ही अपनी नादानी, नासमझी और कमजोरियों के कारण शरीर और मन से जुड़े जो अनगिनत दुःख निरन्तर भोगने पड़ते हैं, जो उपेक्षा, जो अपमान, जो तिरस्कार, जो मार-पीट और डाँट-फटकार उनको बराबर सहनी पड़ती है, यदि कोई माई का लाल इन सब पर एक लम्बी दर्द-भरी कहानी लिखे, तो निश्चय ही वह कहानी, हम में से जो भी संवेदनशील हैं, और सहृदय हैं, उनको रुलाये बिना रहेगी ही नहीं। अपने ही बालकों को हमने ही तन-मन के जितने दुःख दिए हैं, चलते-फिरते और उठते-बैठते हमने उनको जितना मारा-पीटा, रुलाया, सताया और दुरदुराया है, उसकी तो कोई सीमा रही ही नहीं है। इन सबकी तुलना में हमारे घरों में बालकों के सही प्यार-दुलार का पलड़ा प्रायः हल्का ही रहता रहा है।

ऐसे अनगिनत दुखी-दरदी बालकों के बीच उनके मसीहा बनकर काम करने वाले स्वर्गीय गिजुभाई बधेका की अमृत वर्षा करने वाली लेखनी से लिखी गई, और माता-पिताओं और शिक्षक-शिक्षिकाओं के लिए वरदान-रूप बनी हुई छोटी-बड़ी गुजराती पुस्तकों के हिन्दी अनुवाद इस गिजुभाई ग्रंथमाला के नाम से प्रकाशित करने का सुयोग और सौभाग्य बाल-शिक्षा के काम में लगी हमारी एक छोटी-सी शिक्षा-संस्था को मिला है, इसकी बहुत ही गहरी प्रसन्नता और धन्यता हमारे मनःप्राण में रम रही है। हमको लगता है कि इससे अधिक पवित्र और पावन काम हमारे हिस्से न पहले कभी आया, और न आगे कभी आ पाएगा। हम अपनी इस कृतार्थता को किन शब्दों में और कैसे व्यक्त करें, इसको हम समझ नहीं पा रहे हैं। हम नम्रतापूर्वक मानते हैं कि परम मंगलमय प्रभु की परम सुख देने वाली आन्तरिक प्रेरणा का ही यह एक मधुर और सुखद फल है। इसको लोकात्मा रूपी और घट-घट-व्यापी प्रभु के चरणों में सादर, सविनय समर्पित करके हम धन्य हो लेना चाहते हैं : **त्वदीय वस्तु गोविन्दः तुभ्यमेव समर्पयेत्!**

क्राउन सोलह पेजी आकार के कोई तीन हजार की पृष्ठ संख्या वाली इस गिजुभाई ग्रंथमाला में गिजुभाई की जिन 15 पुस्तकों के हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करने की योजना बनी है, उनमें चार पुस्तकें माता-पिताओं के लिए हैं। चारों अपने ढंग की अनोखी और मार्गदर्शक पुस्तकें हैं। घरों में बालकों के जीवन को स्वस्थ, सुखी और समृद्ध बनाने की प्रेरक और मार्मिक चर्चा इन पुस्तकों की अपनी विशेषता है। ये हैं :

1. माता-पिता से
2. माँ-बाप बनना कठिन है
3. माता-पिता के प्रश्न
4. माँ-बापों की माथापच्ची।

बाकी ग्यारह पुस्तकों में बाल-जीवन और बाल-शिक्षण के विविध अंगों की विशद चर्चा की गई है। इनके नाम यों हैं :

1. मोण्टीसोरी-पद्धति, भाग 1-2
2. बाल-शिक्षण : जैसा मैं समझ पाया
3. प्राथमिक शाला में शिक्षा-पद्धतियाँ
4. प्राथमिक शाला में शिक्षक
5. प्राथमिक शाला में भाषा-शिक्षा
6. प्राथमिक शाला में चिट्ठी-वाचन
7. प्राथमिक शाला में कला-कारीगरी की शिक्षा, भाग 1-2
8. दिवास्वप्न
9. शिक्षक हों तो
10. चलते-फिरते
11. कथा-कहानी का शास्त्र, भाग 1-2

इनमें 'मोण्टीसोरी पद्धति', 'दिवास्वप्न' और 'कथा-कहानी का शास्त्र' ये तीन पुस्तकें अपनी विलक्षणता और मौलिकता के कारण शिक्षा-जगत् के लिए गिजुभाई की अपनी अनमोल और अमर देन बनी हैं। इनमें बाल-देवता के पुजारी और बाल-शिक्षक गिजुभाई ने बहुत ही गहराई में जाकर अपनी आत्मा को उंडेला है। बाल-जीवन और बाल-शिक्षण के मर्म को समझने में ये अपने पाठकों की बहुत मदद करती हैं। बार-बार पढ़ने, पीने, पचाने और अपनाने लायक भरपूर सामग्री इनमें भरी पड़ी है। ये अपने पाठकों को बाल-जीवन की गहराइयों में ले जाती हैं, और बाल-जीवन के मर्म को समझने में पग-पग पर उनकी सहायता करती हैं।

गिजुभाई की इन पन्द्रह रचनाओं में से केवल दो रचनाएँ, 'दिवास्वप्न' और 'प्राथमिक शाला में भाषा-शिक्षा' सन् 1934 में पहली बार हिन्दी में प्रकाशित हुई थीं। शेष सब रचनाएँ अब सन् 1987 से क्रम-क्रम से पुस्तक के रूप में प्रकाशित होने वाली हैं। पचास से भी अधिक वर्षों तक हिन्दी-भाषी जनता का हमारा शिक्षा-जगत् इन पुस्तकों के प्रकाशन से वंचित बना रहा। न गिजुभाई का जन्म-शताब्दी-वर्ष आता, और न यह पावन अनुष्ठान हमारे संयुक्त पुरुषार्थ का एक निमित्त बनता। 15 नवम्बर, 1984 को शुरू हुआ गिजुभाई का जन्म-शताब्दी-वर्ष 15 नवम्बर, 1985 को पूरा हो गया। किन्तु गुजरात की बाल-शिक्षा-संस्थाओं ने और बाल-शिक्षा-प्रेमी भाई-बहनों ने गुजरात की सरकार के साथ जुड़कर जन्म-शताब्दी-वर्ष की अवधि 15 नवम्बर, 86 तक बढ़ाई, और गिजुभाई के जीवन और कार्य को उसके विविध रूपों में जानने और समझने की एक नई लहर गुजरात-भर में उठ खड़ी हुई। गुजरात के पड़ौसी के नाते उस लहर ने राजस्थान, मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश के हम कुछ साथियों को भी प्रेरित और प्रभावित किया। फलस्वरू गिजुभाई ग्रंथमाला को हिन्दी में प्रकाशित करने का शुभ संकल्प राजस्थान के राजलदेसर नगर के बाल-शिक्षा-प्रेमी नागरिक भाई श्री कुन्दन बैद के मन में जागा, और उन्होंने इस ग्रंथमाला को हिन्दी-भाषी जगत् के हाथों में सौंपने का बीड़ा उठा लिया।

हमको विश्वास है कि भारत का हिन्दी-भाषी जगत्, विशेषकर उसका हिन्दी-भाषी शिक्षा-जगत्, अपने बीच इस गिजुभाई ग्रंथमाला का भरपूर स्वागत, मुक्त और प्रसन्न मन से करेगा, और इससे प्रेरणा लेकर अपने क्षेत्र के बाल-जीवन और बाल-शिक्षण को सब प्रकार से समृद्ध बनाने के पुण्य-पावन कार्य में अपने तन-मन-धन की तल्लीनता के साथ जुट जाना पसन्द करेगा। हिन्दी में गिजुभाई ग्रंथमाला के अवतरण की इससे अधिक सार्थकता और क्या हो सकती है?

अपने जीवन-काल में गिजुभाई ने अपनी रचनाओं को अपनी कमाई का साधन बनाने की बात सोची ही नहीं। अपने चिन्तन और लेखन का यह नैवेद्य

भक्तिभावपूर्वक जनता जनार्दन को समर्पित करके उन्होंने जिस धन्यता का वरण किया, वह उनकी जीवन-साधना के अनुरूप ही रहा। गिजुभाई के इन पदचिह्नों का अनुसरण करके हमने भी अपनी गिजुभाई ग्रंथमाला को व्यावसायिकता के स्पर्श से मुक्त रखा है, और ग्रंथमाला की सब पुस्तकों को उनके लागत मूल्य में ही पाठकों तक पहुँचाने का शुभ निश्चय किया है।

बीकानेर, राजस्थान के हमारे बाल-शिक्षा-प्रेमी साथी, जाने-माने शिक्षाविद् और गिजुभाई के परम प्रशंसक श्री रामनरेश सोनी इस ग्रन्थमाला के अनुष्ठान को सफल बनाने में हमारे साथ सक्रिय रूप से जुड़ गए हैं, इससे हमारा भार बहुत हल्का हो गया है।

हमको खुशी है कि हमारे साथी श्री कुन्दन बैद इस ग्रन्थमाला की 15 पुस्तकों के लिए पन्द्रह ऐसे उदार और सहृदय दाताओं की खोज में लगे हैं, जो इनमें से एक-एक पुस्तक के प्रकाशन का सारा खर्च स्वयं उठा लेने को तैयार हों। इसमें भी पहल श्री कुन्दन बैद ने ही की है। त्याग और तप की बेल तो ऐसे ही खाद-पानी से फूलती-फलती रही है!

—काशिनाथ त्रिवेदी

गाँव-पीपल्याराव
इन्दौर-452001

अभिनंदनीय प्रयास

श्री गिजुभाई बधेका की महत्त्वपूर्ण शैक्षिक कृति 'हालतां-चालतां' हिन्दी में अनूदित होकर प्रकाशित हो रही है। मैं अपने हृदय के अंतरतम से इस प्रयास का अभिनंदन करता हूँ, क्योंकि वैविध्यपूर्ण रोचक गद्य-शैली में लिखे गए उनके ये जीवंत शैक्षिक अनुभव हिन्दी भाषी अंचल के लाखों पाठकों तक पहुँचेंगे।

गिजुभाई उन स्वप्रदृष्टाओं में से थे, जो बाल-शिक्षण को नए समाज की रचना का एक सशक्त माध्यम मानते थे—एक ऐसी नयी समाज-रचना, जिसमें न कोई किसी से डरे, न डराए, बल्कि प्रत्येक व्यक्ति सब के साथ मिलजुलकर सहयोगपूर्वक रहे और सभी लोग अपने-अपने कामों में उल्लासपूर्वक रचे-पचे रहें। ऐसे अनुशासित, कर्मनिष्ठ एवं सहकार-प्रिय नागरिकों का निर्माण हमें करना है। शिक्षा के माध्यम से समाज की नूतन संरचना के ऐसे विचार इस देश की अधिक से अधिक जनसंख्या तक यदि पहुँचते हैं तो निश्चय ही यह एक अभिनंदनीय प्रयास है।

निर्भीक, उद्यमी, सहयोगी एवं शांतिप्रिय नागरिकों के निर्माण के लिए बाल-शिक्षण का स्वरूप कैसा होना चाहिए, इस दिशा में गिजुभाई दिन-रात चिंतन-मनन करते रहते थे। उनके अपने जीवन के तथा आस-पास रहने वाले लोगों के दैनिक जीवन के अनेक छोटे-बड़े प्रसंग उनके विचार-तंत्र को झंकृत कर देते थे। एक बाल-शिक्षक, बाल-शिक्षाविद तथा बच्चों के अभिभावक के बतौर उनकी प्रखर दृष्टि जहाँ बच्चों की मानसिकता पर थी, शिक्षण के विविध माध्यमों और उनकी प्रभावोत्पादकता पर थी, वहीं उन विचारों पर भी थी, जिनसे शिक्षण का आनंद और गतिशीलता बनी रहती है।

अपनी इस डायरी में गिजुभाई ने अनेक प्राणवान क्षणों का वर्णन किया है, बाल-मन की गहराई में उतर कर उन्हें समझने का प्रयास किया है, गहन शैक्षिक सिद्धांतों का विवेचन किया है तथा अभिनव प्रयोगों, अपनी त्रुटियों एवं सफलताओं को ईमानदारी से प्रस्तुत किया है। एक तरफ वे बच्चों को ए. एस. नील की शैली में कहानी कहने का प्रयोग बताते हैं तो दूसरे क्षण विद्यालय के प्रेमपूर्ण वातावरण से बच्चों में कैसे अनुकूल बदलाव आते हैं, उनकी चर्चा करते हैं, तो तीसरे क्षण बचपन के भय, अल्पतानुभव ग्रंथि प्रतिभा, विस्मृति,

प्रदर्शन-प्रियता जैसे विषयों पर एक मनोविज्ञानवेत्ता की भाँति विवेचन करते नजर आते हैं। किन क्षणों में किस तरह अपना रास्ता निकालना चाहिए, इस बारे में गिजुभाई के अनेक बहुमूल्य विचार इस पुस्तक में हमें पढ़ने को मिलते हैं।

पुस्तक की भूमिका में गिजुभाई ने स्वयं लिखा है : 'सुबह से शाम तक हमारे आस-पास कितनी ही घटनाएँ घटित होती हैं। प्रत्येक घटना किसी न किसी विचार को जगाती है। इसी विचार-जागृति का अलग-अलग समय में मैंने जो विवरण लिपिबद्ध किया है, वही 'चलते-फिरते' में मौजूद है। ....

'चलते-फिरते' की घटनाएँ सत्य हैं। अध्ययन और अनुभव के द्वारा ज्ञात किए गए अनुभव मेरे हैं। प्रत्येक पाठक इनको अपनी अनुभव-दृष्टि से समझने, विचारने की कोशिश करे, इसी में 'चलते-फिरते' की सफलता निहित है।'

इस पुस्तक की एक खास विशेषता यह है कि इसकी प्रस्तावना स्वयं गिजुभाई ने लिखी है, जबकि उनकी अन्य पुस्तकों की भूमिकाएँ उनके विद्वान मित्रों श्री नाना भाई भट्ट, काका साहेब कालेलकर हरभाई त्रिवेदी आदि ने लिखी थी। यह एक विरल चीज है।

गिजुभाई जितने बड़े लेखक थे, उतने ही बड़े पाठक एवं अध्येता थे। देश-विदेश के शिक्षाविदों की कृतियाँ मँगवाकर बड़े ही मनोयोग से पढ़ते थे। 'गिजुभाई का शिक्षा में योगदान' पुस्तक लिखते समय मैंने जहाँ गिजुभाई द्वारा रचित सभी ग्रंथों का अनुशीलन किया था, वहीं यह ज्ञात करने का भी प्रयास किया था कि गिजुभाई के अध्ययन की परिधि में कौन-कौनसी पुस्तकें आई थी। उनकी एक सूची भी मैंने अपनी पुस्तक में दी है। रूसो, फ्रॉबेल, ए. एस. नील, एडगर, चेखव, मोपासां, रवीन्द्रनाथ, गाँधीजी आदि अनेक विद्वानों के साहित्य का उन्होंने गहन अध्ययन किया था। 'चलते-फिरते' में उनके वाचन, अध्ययन एवं विवेचन का प्रमाण सहज ही उपलब्ध है।

प्रस्तावना में उन्होंने लिखा भी है : 'शिक्षा जगत में मैं अमुक एक व्यक्ति या सिद्धांत का ही उपासक नहीं हूँ वरन् प्रमुख व्यक्ति एवं सिद्धांत की उपासना के साथ सत्य के मुख का दर्शन करने के लिए स्वानुभव से पुरुषार्थ करने में जुटा हूँ। अतः 'चलते-फिरते' किसी मत-पंथ को प्रस्तुत नहीं करता अपितु सिर्फ मेरी वैचारिक दृष्टि को प्रस्तुत करता है।'

श्री महादेव भाई के इस मित्र की इस पुस्तक को पढ़ते समय महादेव भाई की डायरियों का स्मरण हो आता है—सर्वत्र हल्की-फुल्की, विनोदी, खिलंदरी एवं चित्रोपम शैली देखने को मिलती है। सरलता एवं सहजता के साथ शैक्षिक-विचारों को प्रस्तुत करने की यह शैली बड़ी ही सुन्दर एवं मनोरम है।

मध्यभारत के प्रथम शिक्षामंत्री एवं गाँधीवादी चिंतक श्री काशिनाथजी त्रिवेदी ने गिजुभाई ग्रंथमाला के अनुवाद का जो अभियान छेड़ा, उनमें इस पुस्तक के अनुवादक भाई रामनरेश सोनी भी सहयोगी बने। श्रीयुत शिवरतन थानवी, इन्द्रनारायण मूथा तथा शिक्षा विभाग, राजस्थान की शैक्षिक पत्रिकाओं 'शिविरा', 'नया शिक्षक' ने गिजुभाई के विचारों एवं कार्यों को दूर-दूर तक पहुँचाने का श्रम किया। राजलदेसर के श्री कुंदन बैद ने इन ग्रंथों के प्रकाशन का कठिन दायित्व वहन किया, इसके लिए ये सभी महानुभाव धन्यवाद के पात्र हैं।

हम सब गिजुभाई की विभूति को प्रणाम करें, उनके विचारों को समझने का प्रयत्न करें तथा अपने देश के बाल-शिक्षण को एवं बालकों के प्रति अपने व्यवहार को सुन्दर, मधुर, सत्यनिष्ठ व समझदारीयुक्त बनाएँ।

ऐसे सरल अनुवाद के लिए एक बार पुनः श्री रामनरेश सोनी को साधुवाद।

—भारतभाई पाठक

2223 संघवी सदन के सामने
तलाजा रोड, भावनगर 364002 (गुजरात)

सहचिन्तन का सुख

किसी भी अच्छी पुस्तक के प्रथम अथवा द्वितीय पाठक होने का जो आत्मिक सुख होता है, वह मैंने गिजुभाई की पुस्तक 'हालतां-चालतां' के हिन्दी अनुवाद को पढ़ कर महसूस किया। इस सुख का आस्वाद तो लिया जा सकता है, लेकिन इसे यों का यों शब्दों में उतारना बहुत कठिन है।

मेरा पाठक-मन इसमें अटक कर रह गया। मुझे लगा कि हर पृष्ठ अनुभव के नये द्वार को खोल रहा है; सोच के दायरे को बढ़ा रहा है और जिन्दगी को एक नये विश्वास से भर रहा है। मुझे यह भी महसूस हुआ कि जैसे मैं एक आलोक पथ की यात्रा पर हूँ, पुस्तक के दृष्टांत मेरे पाथेय हैं और दृष्टान्तों के पात्र मेरे सहयात्री हैं। वे मुझ से संवाद करते चलते हैं। मौन पठन के साथ यह मुखरता कैसी सुखदायक है! इसे वही समझ सकता है जिसने अनुभव के स्वाद को लेना सीख लिया है।

पाठक-मन जब रीझता है तो भीगता भी है; अंकुर भी ग्रहण करता चलता है और गीली मिट्टी की तरह रचाव भी करता है। जो आत्मविभोर होता है, वह आत्मविस्तृत भी तो होता है। सच बात तो यह है कि पुस्तक को पढ़ते समय मैं यह बात भूल ही गया कि मुझे इस पर सहचिन्तन भी लिखना है। मैं तो इसमें इस कदर खो गया था कि मन बँधता भी रहा और भीतर ही भीतर खुलता भी रहा। मन के भीतरी भाग की यात्रा के ऐसे अवसर यदा कदा ही प्राप्त होते हैं।

हाँ, तो मैं अनुवाद पढ़ रहा था पर लग यह रहा था जैसे मूल कृति ही हो। वही सहजता, वही रंजकता और वही स्वाभाविकता। न कहीं कृत्रिमता और न कहीं शब्द-बोझिलता। अनुवाद जब मूल का स्वाद दे तो उसे सराहे बिना नहीं रहा जा सकता। श्री रामनरेश सोनी ने अपने ऐसे ही अन्य प्रकाशनों की तरह इस पुस्तक को भी देश-विदेश में फैले हिन्दी पाठकों के लिए उपलब्ध करवा कर सचमुच एक पुण्य-कार्य किया है। हिन्दी जगत इस साधना का ऋणी रहेगा।

उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के समकालीन शिक्षाविदों के सामने गिजुभाई की चिन्तनधारा को सदेह खड़ी करके हम कह सकते हैं कि यह रही वह चिन्तनधारा, जो विश्व को भारत का अवदान है और जो भारत की ही नहीं, पूरे विश्व की थाती बनने योग्य है।

आइए, चलें, गिजुभाई के साथ बाल-मन की मनोयात्रा करें। मन की अतृप्त इच्छाएँ तृप्ति चाहती हैं पर बालकों को यह तृप्ति कहाँ मिलेगी? या तो कहानियों में और या फिर सपनों में। बच्चे जब कहानी सुनना इतना अधिक पसंद करते हैं तो जाहिर है कि शिक्षा का एक सबल माध्यम कहानी को भी बनाया जा सकता है। बच्चे कहानी में स्वयं को ढूँढ़ते हैं; वे कहानी के भाग बन जाते हैं और कभी-कभी तो कुछ पात्रों के साथ इतनी आत्मीयता स्थापित कर लेते हैं कि पात्रों का अहित भी उन्हें अपने अहित सा लगने लगता है। वे यह बरदाश्त ही नहीं कर सकते कि उनके प्रिय पात्र को किसी तरह की क्षति पहुँचे। कहानी चाहे बकरिये की हो या चिड़ी-चिड़े की, आत्मीयता का यह विस्तार बढ़ता चला जाता है।

गिजुभाई ने ए.एस. नील की कहानी विधा को अपनाया लेकिन उसे एक ऐसा आत्मिक स्पर्श दिया जो शायद नील में भी संभव नहीं था। कहानी अपनी रफ्तार से चलती है; बीच-बीच में श्रोता भी जो संवाद करते हैं, वह भी कहानी का भाग बन जाता है और संवाद को लेकर कहानी एक नया विकास प्राप्त करती है। पुस्तक में चिड़ी, चिड़े, अण्डे और उनसे निकलने वाले बच्चों की एक कहानी है। अण्डे भी तीन हैं और गिजुभाई के बच्चे भी तीन। इसलिए तीनों एक-एक अण्डे को और उससे निकलने वाले बच्चे को बाँट लेते हैं। एक बच्चा बचु का, एक बबु का और एक टीकु का। बिल्ली आकर एक बच्चे को खा जाती है। बबु की सहज प्रतिक्रिया है 'मेरे बच्चे को नहीं।' दूसरे दिन बिल्ली दूसरे बच्चे को खा जाती है। बबु फिर बोल उठती है 'टीकु का बच्चा खा गई।' और तीसरे दिन जब बिल्ली फिर आ धमकती है तो भय की आशंका को पहले से ही भाँप कर बबु चिहुंक पड़ती है, 'पर मेरे वाला बच्चा तो उड़ गया था।' कितनी चतुराई के साथ वह अपने बच्चे को बचा लेती है, यह देख-सुनकर गिजुभाई भी हैरान रह जाते हैं। और तब जब एक दिन कहानी में बिल्ली द्वारा तीसरे बच्चे को खा जाने का भी जिक्र आता है तो बबु को इस कदर दुख होता है कि वह फिर कभी भी उस कहानी को सुनाने की माँग नहीं करती।

कहानी का रेशा-रेशा बाल-मन को उद्घाटित करता चलता है। बच्चा पर-रक्षण से पहले आत्मरक्षण चाहता है। कहानी में वह अपनी अतृप्त इच्छाओं की तृप्ति को ढूँढ़ता है। गुब्बारों की कहानी इसलिए सुनता है क्योंकि उसे गुब्बारे प्राप्त करने की चाह है। गुब्बारे मिल जाएँ तो फिर गुब्बारों वाली कहानी का कोई अर्थ नहीं रह जाता। टीकु रात को बार-बार चौंक कर उठती है सिर्फ यह देखने

के लिए कि कहीं बबु ने उसके पलने पर अधिकार तो नहीं कर लिया। पलना उसका अपना है। उसकी तृप्ति इसी में है कि पलना उसी के पास रहे। उधर बबु की अतृप्त चाह पूरी नहीं होती; शायद इसीलिए वह कहानी में टीकु वाले बच्चे को मरवा देती है। यह है बाल-मन का एक दिग्दर्शन!

बच्चे के मन को समझने के लिए अपने मन को भी खोलना होता है। खोलना ही नहीं; परत-दर-परत उधेड़ना होता है तब कहीं जाकर बच्चे के मन की गहराई में उतरा जा सकता है। बच्चों की किलकारियों और कुतूहल-वृत्तियों को नापने के पैमाने आज तक नहीं बने, न वे सूत्र हाथ में आए जो उनकी ताजगी, चंचलता और सृजनात्मक उमंग का लेखा-जोखा रख सकें। न तो उनकी जिज्ञासा को नापने के फार्मूले इजाद हुए हैं और न उनके चेहरों की कांति, आँखों की चमक और मन के भावों का चित्रांकन ही संभव हो पाया है। बच्चे के व्यक्तित्व को नापना हो तो हमारे सारे पैमाने, सूत्र और फार्मूले ओछे पड़ जाएँगे। तो फिर क्या किया जाए? इसका एक ही उत्तर है—बच्चे को आत्मीयता दो और उसके विश्वास को जीतो।

गिजुभाई ने यही तो किया था। अपने बड़े होने के बड़प्पन वाले भाव को तिलांजलि देदी थी उन्होंने। बच्चों के साथ वे बच्चे थे। बच्चे दौड़ते हुए आकर चाहे उन पर लद जाएँ या उन्हें गिजुभाई गांडा कहें, उन्हें किसी प्रकार का एतराज नहीं था। औपचारिकता का लबादा तो उन्होंने कभी का उतार फेंका था। यही कारण है कि वे बच्चों के मन को समझ सके। जहाँ ध्रुव और धुरियाँ अलग-अलग होती हैं वहाँ व्यक्ति एक समान धरातल पर खड़ा रह ही नहीं सकता। खड़ा रहना हो तो प्रतिष्ठा की सत्ताओं को तोड़ना पड़ेगा। बाल मंदिर में पढ़ने वाले बच्चे भी प्रतिष्ठा की सत्ता को तोड़ने वाले हैं। सत्ता चाहे धन की हो, प्रतिष्ठा की हो, पद की हो या फिर चाहे विद्वत्ता अथवा ज्ञान की ही क्यों न हो, ऐसे सभी परिवारों से आने वाले बच्चे बाल मंदिर में एक साथ मिलकर झाड़ू निकालते हैं और सफाई करते हैं। गिजुभाई की सहजता बच्चों के व्यवहार की सहजता बन जाती है। टीम-टाम वाली सभ्यता या दिखावे की भावना किरच-किरच टूट कर बिखर जाती है।

पुस्तक में अनेक घटनाएँ प्रसंग और दृष्टान्त दिये गये हैं। प्रत्येक प्रसंग या दृष्टान्त अनुभव की एक इकाई बनकर सामने आता है। इनमें गिजुभाई के विविध रूप उद्घाटित होते चलते हैं। कहीं वे शिक्षाविद् हैं तो कहीं दार्शनिक,

कहीं मनोविश्लेषक हैं तो कहीं तत्ववेत्ता। पर इन सभी रूपों के बीच उनका अपना एक सर्वग्राही रूप भी है और वह है एक सहज, सरल और निश्छल व्यक्ति का रूप।

शिक्षाविद् के रूप में उन्होंने देखा कि बच्चे कहानी में या सपनों में या फिर नाटकों में अपने आप को अभिव्यक्त करते हैं। बाहर से शिष्टता, सभ्यता और धर्मनिष्ठता के वातावरण में पला-पोसा रमेश जब नाटक में 'जी' की जगह 'तू-तकार' करने में मजा लेता है या गँवारूपन का अभिनय करता है अथवा निषेध की गई चीजों को खाने का चटखारे लेकर वर्णन करता है तो वहाँ वह नहीं होता, उसकी वे दमित इच्छाए होती हैं जो अभिव्यक्ति चाहती हैं। सपने भी तो इसी अभिव्यक्ति के माध्यम हैं। बच्चे अपनी अतृप्त इच्छाओं की तृप्ति सपनों में देखते हैं। सपनों में बबु को गुब्बारे, रमा को बरफी और रामजी को पुस्तक मिल जाती है। यही सब बातें तो वे जीवन में चाहते हैं। विनोद बहन बालमंदिर के स्वरूप को सजाने के जो दिवास्वप्न लेती हैं, वही रात के सपनों में गुलाब जल के फव्वारों और फूलों के बगीचों के रूप में साकार होते हैं। बबु जिस कुत्ते से बेहद प्यार करती थी वह भले ही मर गया हो पर सपने में वह उछलता-कूदता फिर से जिन्दा हो जाता है। बबु को उसका मरना पसंद ही नहीं था तो वह उसे कैसे मरने देती? अतृप्त इच्छा यथार्थ में पूर्ण न हो तो क्या, स्वप्न में तो पूरी हो ही सकती है। ख्वाब और हकीकत के बीच में यह कितना झीना हासिया है!

कमोबेश कहानी की भी यही स्थिति है। गतिमान बच्चे स्थिर घटनाक्रम की कहानियाँ नहीं चाहते। उन्हें तो घोड़ों, घुड़सवारों और मोटरों की गतिमान दुनिया चाहिए; चाहे फिर घोड़ा भड़कता हो या सवार गिरता हो, मोटर पीछा करती हो या घोड़ा और ज्यादा भड़कता हो, उन्हें तो 'क्रिया' भी चाहिए और समाधान भी। अन्त में मोटर के रुकने से घोड़े का भी रुक जाना और सवार का पैदल चलकर उस पर चढ़ जाना मानो बाल संतोष की चरम परिणति है।

गिजुभाई का मानना था कि कहानी वही है जिसमें बच्चे रस लें। उल्लू की तरह भारी भरकम चेहरा रखकर दिन-रात शिक्षाशास्त्री बने रहने का भरम पालने वाले लोग इस सत्य को नहीं पहचान सकते। गिजुभाई तो शिक्षाशास्त्र और भजिया क्लब की बातें भी एक साथ कर सकते थे। असली मकसद तो जीवन में रस लेने का है। नीरस शिक्षा अशिक्षा से भी ज्यादा भयंकर होती है।

पुस्तक में मनोविज्ञान के भी कई दृष्टांत हैं। आदमी संदेह क्यों करता है; भयभीत क्यों होता है, भूल क्यों जाता है और किसी को टालना क्यों चाहता है, ये सभी मनःस्थितियाँ दृष्टांतों के रूप में चित्रित की गई हैं। एक-एक दृष्टांत अनुभव का एक पूरा रचना-लोक है। मन यदि मानकर चले कि कहीं गड़बड़ी जरूर हुई है तो पढ़ते समय विवरण छूट सकता है जो सही स्थिति को रेखांकित करता हो। हरभाई को इस बात का संदेह था कि कर्मचारी ने दानदाता की राशि जमा ही नहीं करवाई होगी, बस इसी कारण वे लिस्ट को बार-बार पढ़ कर भी दानदाता का नाम नहीं ढूँढ पाते। संदेह क्या पैदा हुआ जैसे दृष्टि-भ्रम ही हो गया हो। उन्हें उस समय सुकून मिला जब किसी ने कहा—यह रहा नाम ऊपर से तीसरे नम्बर पर। व्यक्ति जब पूर्व धारणा बना ले तो दृष्टिभ्रम या धुंधलका स्वाभाविक होता है।

गिजुभाई की यह धारणा कितनी सटीक है कि बाल्यकाल में पैदा किया गया भय उम्र-भर पीछा नहीं छोड़ता। उनका मानना था कि बचपन में ऐसा कुछ नहीं किया या कहा जाना चाहिए जो भय पैदा करने वाला हो। भूत-प्रेतों की, चीतों या चोरों की, आतंक और मारामारी की कहानियों को टाला जाना चाहिए। गिजुभाई के भैरव रूप और काले चेहरे को देख कर जो बालक डर गया था, उसका वह भय समूचे तर्कशास्त्र को उंडेल देने और हकीकत को प्रकट करने के बाद भी समाप्त नहीं हो पाया। चन्द्रमणि का निर्भयता पर भाषण देना और खतरे वाली सभा में जाने से बचने के लिए बहाने ढूँढना यही सिद्ध करता है कि निर्भयता की ज्यादा डींगें हाँकने वाला ही सबसे ज्यादा कायर भी होता है। बचपन से ही अँधेरे में घूमने वाले दामू को अँधेरे का डर नहीं सताता जबकि बचु को उजाले के अतिरिक्त सभी जगहों पर डर लगता है।

निर्भयता के साथ यदि अज्ञान जुड़ा हुआ हो तो उसकी परिणति भयानक हो सकती है। कुएँ से शव निकालते समय दामू के नर्वस होने के पीछे यही मनःस्थिति थी पर जब रस्सी के रूप में ज्ञान के सहारे की बात सामने आई तो भय तिरोहित हो गया। भय हमेशा नकारात्मक हो, यह जरूरी नहीं, उसका एक सकारात्मक पक्ष भी है; जीवन-रक्षा वाला पक्ष। बचपन में ही यदि बता दिया जाए कि अमुक-अमुक भयंकर हैं, उनसे बचा जाए और जरूरत पड़े तो रक्षा के उपाय भी बताए जाएँ तो जीवन कई त्रासदियों से बच सकता है। डर का अर्थ

हमेशा घबराना नहीं होता। डर की शिक्षा का पहला सूत्र है नहीं डराना। शिक्षकों को इस ओर सावधान रहना सीखना होगा।

व्यक्ति इसलिए भूलता है क्योंकि उसे कुछ बातें, कुछ नाम या कुछ व्यक्ति अप्रिय हैं, वह उन्हें स्मरण रखना ही नहीं चाहता। यह एक मनोवैज्ञानिक उद्वेलन है। जिस काम को हम करना ही नहीं चाहें और हमारे ऊपर लाद दिया जाए तो हम उसे भूलना चाहेंगे। चाहे फिर अपनी प्रेमिका के नाम लिखे गये किसी अन्य प्रेमी के पत्र हों या फिर ऐसे संदेश हों जो हमें बोरियत लगते हों या दवा को पीने में विस्मृति वाली बात हो, सभी के पीछे अरुचि, अप्रियता और बोझिलता के भाव अवश्य हैं। अपने काम के लिए यदि दूसरों के सम्बल का आश्वस्तिमूलक सहारा हो तो भी भूला जा सकता है। 'देखना कहीं भूल मत जाना' आदि बातों के पीछे असली मकसद यही है कि हमें उस बात को भूलना ही है। मनोविज्ञान की ये गुत्थियाँ जिस सहजता के साथ दृष्टान्तों में पिरोई गई हैं, वे शिक्षा के साथ-साथ हमें लोगों के मनोलोक की यात्रा भी करवाती हैं।

टालने के पीछे भी यही भाव है। जब हम किसी को उसकी माँगी हुई वस्तु न देकर बहाने गढ़ते हैं तो उसका सीधा-सादा तात्पर्य है कि हम उसे वह वस्तु देना ही नहीं चाहते। चितरंजन को पुस्तक के नहीं देने के पीछे यही मनोवृत्ति परिलक्षित होती है।

गिजुभाई का एक पक्ष और भी है—दार्शनिक चिन्तन वाला पक्ष। इसे अरबी और यूरोपियन कसाइयों के दृष्टान्तों तथा भारतीय कसाई के उस दृष्टांत से समझाया गया है जो हिंसा करते हुए भी अपने शेष जीवन-व्यवहार में नितान्त सात्विक एवं ईश्वर भक्त है। धंधे से जुड़ी हिंसा, हिंसा से जुड़ा अज्ञान तथा हिंसा के बावजूद सात्विकता का निर्वाह आदि विविध स्थितियाँ अन्त में दर्शन धारा में परिणत हो जाती हैं।

माँ-बाप की एक ललक यह रहती है कि उनका बच्चा ठीक उन्हीं की प्रतिकृति बने। वे अपने आपको आदर्श मानकर चलते हैं। सभ्यता प्रतिकृतियों, प्रतिच्छायाओं और अनुकृतियों के पाँवों पर चलकर आगे नहीं बढ़ा करती। उसे तो बच्चों के नन्हें किन्तु पुख्ता कदमों की दरकार रहती है। गिजुभाई ने दृष्टान्त देकर सिद्ध किया है कि डॉक्टर के पुत्र को तभी सफलता मिली जब वह अपनी रुचि के अनुसार संगीतज्ञ बना। अध्यापक श्यामजी के पुत्र की मैकेनो बनाने में

रुचि है तो इंजीनियर भीमजी का पुत्र रवि साहित्य-प्रेमी है। पिताओं के क्षेत्र भले ही जुदा हों, मनोलोक का क्षेत्र तो बच्चों का अपना है। दोनों पिता बच्चों की प्रगति से असंतुष्ट हैं पर गिजुभाई को इस बात का विस्मय होता है कि वे अपने 'स्व' को बच्चों पर क्यों लादना चाहते हैं ? उन्हें अपनी रीति से विकास करने का मौका क्यों नहीं देते ? शिक्षा के सामने आज भी यह समस्या बरकरार है। प्रतिभा के ह्रास का एक प्रमुख घटक भी यही है।

अनेक मुक्ता-मणियाँ बिखरी पड़ी हैं, इस पुस्तक में। चलते-फिरते ज्ञान के संस्कार भरे पड़े हैं इसमें। छोटे चाचा का भवन निर्माण के समय ठेकेदार का पूर्ण विश्वास करना और चम्पा बुआ का हर बात में ठेकेदार की गलतियाँ ढूँढ़ना मात्र घटनाक्रम नहीं है—उनके पीछे अनुभव का एक पूरा वृत्त है; मनःस्थितियों का ताना-बाना है तथा रुचि-अरुचि का सम्पूर्ण इतिवृत्त है। त्रिवेणी बहन की भाजी अकारण ही नहीं जलती; उसके पीछे भी रुचि-अरुचि का यही खेल है; रूसी साहित्य की भंगिमाओं के पीछे भी एक पूरी पीढ़ी के संघर्ष और यातनाओं का लेखा-जोखा है।

संवेदना की दुनिया का रचाव इस पुस्तक में है। विज्ञान की शोध दृष्टि, भारतीय दर्शन की समवेत छवि, आत्म मंथन की विलक्षण ताजगी, अजस्र चेतनाधारा की प्रवहमानता और ऊर्जा की एक अनन्त कथा इस पुस्तक में है। इसमें अनूठी सादगी है, बच्चों को समझने की समझ है, वर्णन में तरलता है, आत्मीयता का बोध है, सोच के नये संस्कारों की पगडंडियाँ हैं और एक अलभ्य अनुभव यात्रा है। न कहीं चकाचौंध है और न तामझाम, न शब्द छल है और न नीरसता; न बौद्धिक व्यायाम है और न परम्पराओं की कदमताल; न आदर्शों का बघार है और न उपदेशों की घुट्टियाँ। बस इसीलिए यह पुस्तक अपने आप में एक पूर्ण अनुभव है। हिन्दी जगत के लिए गिजुभाई के इस रचाव (या कि कुछ हद तक पुनर्रचाव) के लिए श्रद्धेय काशिनाथजी त्रिवेदी का योगदान अप्रतिम रहा है। उनके साथ ग्रंथमाला के अनुवाद हेतु श्री राम नरेश सोनी भी साधुवाद के पात्र हैं। मुझे विश्वास है कि गिजुभाई के शिक्षा साहित्य से जुड़ी हुई पुस्तकों का अनुवाद करके श्री काशिनाथजी और श्री सोनी ने हिन्दी जगत की जो सेवा की है, वह उन्हें शिक्षा क्षेत्र में एक विशेष प्रतिष्ठा और पहचान देगी।

1 स 9 पवनपुरी, बीकानेर 334003 —भवानीशंकर व्यास

शुरुआत

सुबह से शाम तक हमारे आसपास कितनी ही घटनाएँ घटती हैं। प्रत्येक घटना किसी न किसी विचार को जगाती है। इसी विचार-जागृति का अलग-अलग समय में मैंने जो विवरण लिपिबद्ध किया, वही 'चलते-फिरते' में मौजूद है।

जीवंत आदमी के प्रत्येक कार्य के पीछे कोई न कोई हेतु विद्यमान रहता है। कार्य करने का तरीका चाहे अलग-अलग हो या एक ही हो, लेकिन वैयक्तिक स्तर पर हेतु भिन्न होते हैं। इन भिन्न-भिन्न हेतुओं का अध्ययन मानव-मन के अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण प्रकरण होता है। 'चलते-फिरते' इसी प्रकरण के कुछेक पृष्ठ हैं।

मनोविज्ञान के अध्ययन एवं प्रयोग में रचे-पचे विद्वानों के लिए तो मनुष्य मात्र प्रयोग के विधेय हैं। वे लोग विधेयों के इर्द-गिर्द प्रतिपल घटित होने वाली घटनाओं के पीछे निहित कारणों की खोज करते हैं। 'चलते-फिरते' ऐसी ही एक खोज एवं सत्यान्वेषण का प्रयत्न है।

'चलते-फिरते' की घटनाएँ सत्य हैं। अध्ययन और अनुभव के द्वारा ज्ञात किए गए अनुमान मेरे हैं। प्रत्येक पाठक इनको अपनी अनुभव-दृष्टि से समझने-विचारने की कोशिश करे, इसी में 'चलते-फिरते' की सफलता है।

सरलतम विधि से अगर मुझे विचारों को प्रकट करने की कोई रीति हाथ लगी है तो वह है 'चलते-फिरते' की शैली। विचारों को सहजता के साथ प्रस्तुत करना आज की बहुत बड़ी आवश्यकता है; वह आवश्यकता अगर इस शैली से पूरी होती है तो मैं समझूँगा कि यह इस नई शैली की सार्थकता है।

इस युग में अनेक पुस्तकें पढ़ना और उनकी शास्त्रीय परिभाषा को समझने के निमित्त लम्बा समय निकाल पाना सभी के लिए संभव नहीं। जिन लोगों ने समय और श्रद्धा दोनों खर्च कर डाले हों उन्हें सर्वसाधारण के निमित्त अवश्य ही लेखन-कार्य करना चाहिए, ऐसी मेरी मान्यता है। इसीलिए मैंने अपने ज्ञान को 'चलते-फिरते' के रूप में प्रस्तुत किया है।

'चलते-फिरते' का प्रदेश मर्यादित नहीं रह सका; और पूर्ण तो हो भी नहीं सकता। अनंत जीवन-व्यवहार सैकड़ों 'चलते-फिरते' से नहीं लिखे जा सकते। इसीलिए 'चलते-फिरते' जीवन के अनेक प्रसंगों का स्पर्श करने में असमर्थ है और रहेगा ही।

शिक्षा जगत में मैं अमुक एक व्यक्ति या सिद्धांत का ही उपासक नहीं हूँ वरन् प्रमुख व्यक्ति एवं सिद्धांत की उपासना के साथ सत्य के मुख का दर्शन करने के लिए स्वानुभव से पुरुषार्थ करने में जुटा हूँ।

अतः 'चलते-फिरते' किसी मत-पंथ को प्रस्तुत नहीं करता अपितु सिर्फ मेरी वैचारिक-दृष्टि को प्रस्तुत करता है।

आशा है गुजरात के सभी तरह के पाठकों के लिए यह पुस्तक उपयोगी रहेगी। कारण यह है कि इस पुस्तक को बालक भी पढ़ सकेंगे जबकि यह बाल-साहित्य नहीं है; शिक्षक भी इसे पढ़ सकेंगे जबकि यह मात्र शिक्षकों का ग्रंथ नहीं है। 'चलते-फिरते' विविध मनोदशाओं का थोड़ा-बहुत दर्शन मात्र है। अतः यह सभी के लिए है।

—गिजुभाई

15-3-34

चलते-फिरते

खाना खा रहा था, तभी बबली आकर बोली : 'अब और कितनी देर लगेगी ?'

'बस थोड़ी-सी देर।'

'कहानी कब कहेंगे ?'

'खाना खा लेने के बाद ही तो।'

'आज तो एक छोटी कहानी कहना।'

'तू ही बता, कौनसी कहानी कहूँ ?'

'बहुत छोटी।'

'तू किस पर सुनना चाहती है। जिस पर भी कहानी सुनने का तेरा मन हो, उसी पर कहानी सुनाऊँगा।'

बबली कहानी सुनने की जबर्दस्त शौकीन है। इधर जब से मैं नील (इंग्लैड के विख्यात बाल-शिक्षाविद, 'समरहिल' स्कूल के संस्थापक व लेखक ए.एस. नील) पद्धति से कहानी सुनाने लगा हूँ तब से तो वह कहानी सुनने के बाद ही जाकर सोती है। कहानी भी वह बड़े मजे ले-लेकर असाधारण रस से सुनती है।

नील जबर्दस्त कहानी सुनाने वाला है। उसकी इस क्षमता का हाल ही में मुझे पता लगा है। डॉमिनीज फाइव* पुस्तक में तो उसने कमाल ही किया है। मैंने कितनी ही तरह से कहानियाँ सुनाई हैं। पर नील की खूबी अभी मेरे हाथ नहीं आई। कहानियाँ सुनने वाले बालकों को ही पात्र बनाकर उनके साथ बीच-बीच में चलने वाली बातों में से कोई प्रसंग उठाकर कहानी के सूत्र जोड़ते-चलने की नील की विशेषता पर मैं फिदा हूँ।

आजकल मैं घर में और शाला में दोनों जगह नील की पद्धति से कहानियाँ सुनाने लगा हूँ। 'डॉमिनीज फाइव' का अनुवाद भी शुरू किया है।

* यह पुस्तक 'रखडुं टोळी' भाग 1-2 के नाम से श्री दक्षिणामूर्ति प्रकाशन मंदिर द्वारा प्रकाशित हुई है।

गुजराती में 'मास्टर जी और वे पाँच' '(आगे चल कर 'रखडुं टोळी' नाम रखा गया) नाम रखना थोड़ा विचित्र और नवीन ही लगेगा। पर जैसी नील और उसकी कहानियों में विचित्रता और नवीनता है; ऐसा ही कुछ नाम उसकी पुस्तक का होना चाहिए। तभी लोगों के मन में उसे बाँचने का आकर्षण पैदा होगा न!

खाना खाकर उठा ही था कि बबली कहानी सुनने के लिए तैयार थी। चेहरे पर ऐसे भाव थे मानो कहानी सुनने के लिए उसके भीतर गुदगुदी हो रही हो!

बबली बोली : 'अब सुनाइये कहानी।'

'कौनसी?'

बबली को तरह-तरह की कहानियाँ पसंद आती हैं। लोभिये की कहानियाँ बहुत पसंद आती हैं। खास तौर से उसे उस कहानी में बहुत मजा आता है जिसमें सभी लोग नारियल को पकड़कर लटक गए थे। कुत्तों की कहानी भी पसंद आती है उसे। कुत्ते की पीठ पर डंडा मारने वाला चित्र जब उसकी नजरों के सामने आता है तो उसे बहुत आकर्षित करता है। वैसे तो प्रत्येक बालक को कोई न कोई कहानी खास तौर से पसंद आती है। इसका कारण यह है कि उसमें बालक की मनपसंद कोई न कोई खासियत रहती है। कई बार कहानियों में बच्चे अपने अनुभवों और इच्छाओं का साम्य तलाश कर बैठते हैं।

बबली : 'लोभी आदमी वाली तो नहीं, गुब्बारे वाली कहानी सुनाइए।'

गुब्बारे वाली कहानी को वह दो-चार दिनों से रोजाना सुनती है। मैं उसे नील-पद्धति से सुनाता हूँ। बबली को इसमें खुशी होती है। क्योंकि उसकी इच्छा के मुताबिक काम होता है।

मैंने कहानी शुरू की।

'गड़-गड़ करती गाड़ी बाजार में जाकर खड़ी हो गई...'

बबली : 'यों नहीं, ठेठ शुरू से सुनाइए।'

मैं बोला : 'शुरू से ही तो सुना रहा हूँ।'

बबली : नहीं, यों नहीं, शुरू से कहिए।'

अधबीच में से कहानी सुनाने का मेरा प्रयोग बेकार गया। बबली 'एक था राजा' वाली शैली से कहानी सुनने वाली उम्र की बालिका है। कहानी सुनाने की शैलियों में 'एक था राजा' वाली शैली बहुत आसान है। लेखन-कथन में प्राथमिक प्रकार की बबली के लिए केवल स्वाभाविक है। शायद ड्रामेटिक शैली अर्थात् नाट्य शैली को ज्यादा साहित्य-रसिक बालक ग्रहण कर सकते होंगे।

कहानी को दूसरे ढंग से शुरू किया।

छोटी लड़की बोली : 'आज बाजार से गुब्बारे लाने हैं।'

माँ ने कहा : 'पर अभी गुब्बारे नहीं मिलेंगे।'

लड़की बोली : 'चलो पता लगा आयें।'

पिता ने कहा : 'चलो।'

अलीबाबा की गाड़ी आई। कौचमैन था कानजी। पिताजी, बड़ा भाई, बड़ी बहन और छोटी लड़की गाड़ी में बैठ गए।

गड़-गड़ करती गाड़ी बाजार में आकर खड़ी हो गई। सब उतर गए। गुब्बारे के लिए दुकानों पर पूछताछ करने लगे।

एक दुकानदार के पास कांच के संदूक में गुब्बारे थे। सभी गुब्बारे लेने लगे।

बीच में बातचीत

बबली : 'बड़े भैया ने कितना बड़ा गुब्बारा लिया?'

'इतना बड़ा।'

बबली : 'बड़ी बहन ने कितने लिये?'

'एक लिया।'

कहानी

बड़े भाई ने इतना बड़ा एक गुब्बारा खरीदा; बड़ी बहन ने भी एक लिया और....

बीच में बातचीत

बबली : 'छोटी ने तीन गुब्बारे लिये। एक काकड़ी जैसा मिल रहा था न!'

कहानी

छोटी लड़की ने तीन लिये। एक गुब्बारा काकड़ी जैसा बड़ा-सा था। फिर सब के सब गाड़ी में जा बैठे।

पिता : 'चलो अब चाय लेकर घर चलते हैं।'

गाड़ी चाय वाले की तरफ चल दी। चाय की दुकान पर जाकर गाड़ी रुकी। पिता चाय लेने गए। उन्होंने पूछा : 'तुम्हारे लिए लाना है कुछ? कहो तो लाऊँ?'

बीच में बातचीत

बबली : 'टिकिया, टिकिया लानी है।'

कहानी

छोटी लड़की ने कहा कि टिकिया लानी है। पिताजी दुकान पर खड़े टिकिया और चाय खरीद रहे थे। तभी सामने से मोटर आई और घोड़ा भड़क उठा। सभी बच्चे गाड़ी से नीचे गिर पड़े। छोटी लड़की के हाथ से गुब्बारे गिर पड़े और मोटर के पहिये नीचे कुचल गए। भागे-भागे पिताजी आए और उन्होंने सबको उठाकर गाड़ी में बिठाया।

छोटी लड़की ने कहा : 'गुब्बारे तो कुचल गए।'

पिता बोले : 'अब क्या करें?'

बीच में बातचीत

बबली : 'गाड़ी को फिर से बाजार से होते हुए ठीक उसी जगह ले चलिए।'

कहानी

पिता बोले : 'अब क्या करें?'

छोटी लड़की बोली : 'वापिस उसी दुकान पर चलें।' गाड़ी वापिस चली। बाजार बंद हो चुका था। सारे दुकानदार जा चुके थे।

बीच में बातचीत

बबली : 'पर वह गुब्बारेवाला? क्या वह भी चला गया?

कहानी

एक गुब्बारेवाला संदूक बंद करके जाने ही वाला था। उसे देखते ही सब बोल उठे : 'चल भई! गुब्बारे दे।' छोटी लड़की ने फिर से तीन गुब्बारे लिये। सब घर लौटे। गुब्बारों को फुलाया और खा-पीकर सो गये।

कहानी पूरी हुई। बबली बहुत खुश थी। बोली : 'अब कल बात! मुझे बाजार जाकर गुब्बारे लाने हैं, हो! तीन लाऊँगी—लाल, पीला और गुलाबी-जामुनी। काकड़ी जितना बड़ा-सा! कब चलेंगे हम?'

'चलेंगे कभी!'

बबु शांति से सो गई।

बबली को गुब्बारे अच्छे लगते हैं। बहुत सारे ले लेने पर भी अभी उसका शौक पूरा नहीं हुआ। क्या इस कहानी को इच्छा-तृप्ति की कहानी (विश-फुलफिलमेंट) के बतौर नहीं लिया जा सकता? नन्हें बालकों के स्वप्न इच्छा-तृप्ति के अधिक होते हैं। बरफी खाने को नहीं मिले और एकाएक मिल जाए तब भी और अधिक खाने का मन करता है। ऐसे में स्वप्न भी बरफी का ही आएगा और वह खाएगा। इस तरह बालकों की अतृप्त इच्छाएँ तृप्त होती हैं फिर भी स्वप्न से इच्छाएँ पूरी तरह तृप्त हो जाती हैं यह कौन जाने। लेकिन हाँ, अतृप्ति की तात्कालिक बेचैनी घटती-सी लगती है। सच्ची तृप्ति तो वास्तविकता में ही मिलती है। बबु भी गुब्बारे की कहानी सुनकर मानो तृप्त हो गई हो, इस तरह खुशी के साथ सुख-शांति से सो गई थी। लगता है यह तृप्ति का ही आनंद है। बाद में फिर से वह कहने लगती है : 'जब मेला भरेगा तब मैं तीन गुब्बारे लूँगी। लाल, पीला और गुलाबी। पीला गुब्बारा काकड़ी जैसा।'

पर जब तक मेला नहीं आता तब तक क्या कहानी का यह समाधान ठीक नहीं है?

ठीक हो चाहे न हो, बबली खुद चलाकर कहानी का समाधान माँग रही है, यह बात तो स्वीकार ही है।

इसीलिए मैंने अभी सवेरे उठकर 'बबली को गुब्बारे अच्छे लगते हैं' लेख लिखा है। रात को तो इतनी थकान आ गई थी कि एक शब्द भी आगे नहीं बढ़ पा रहा था। मुझे लगा कि अगर इस तरह की टिप्पणी के विरुद्ध मेरे मन का विरोध न करना हो तो मुझे अभी उठकर बिस्तर में लेट जाना चाहिए।

❑

मैं हिंडौले में बैठा था। मेरा मित्र हजामत करवा रहा था। शिक्षा सम्बन्धी बातें चल रही थी। तभी घर के भीतर से आवाज सुनाई दी : 'अबे नासपीटे! बाहर जा रहा है क्या? अभी पिटाई हो जाएगी, देख लेना!'

रोता-रोता बड़ा मुन्ना हमारे पास आया।

मित्र ने पूछा : 'क्या है?'

'छोटू मेरी फिरकनी नहीं देता।'

इसी बीच घर में से फिर आवाज आई : 'इस नासपीटे की धुनाई करनी पड़ेगी। मैं इसे फिरकनी कहाँ से लाकर दूँ?'

'कोई बात नहीं बेटे! कल तुझे नई फिरकनी ला दूँगा।'

'ऊँ ऊँ ऊँ। मुझे फिरकनी चाहिए।'

'कल मिलेगी।'

घर में से फिर आवाज आई : 'नासपीटे! तू इधर आ, इधर।'

लड़का अन्दर गया।

'अभी निबटकर आया है और बिना धुलाये वहाँ क्यों गया था?'

भीतर से घूँसा जमाने की आवाज सुनाई दी।

लड़का रोता-रोता बाहर आया।

'वापिस आता है या नहीं?'

लड़का अंदर गया। अंदर से दरवाजा बंद हुआ। थोड़ी इष्टपूजा भी हुई।

'ऊँ ऊँ ऊँ!' भीतर से आवाज आई।

मित्र ने हजामत बनवाते-बनवाते कहा : 'ऐसा क्यों कर रही हो? मारना मत इसे।'

'मारूँ नहीं तो क्या करूँ? क्या मैं मरूँ?'

लड़का फिर से बाहर आया।

मैं सोच-विचार में खो गया। हजामत बन रही थी। मित्र खामोश था। वह मुन्ने की माँ से कुछ कहने ही वाला था। मैंने उसे रोक दिया और कहा : 'अभी रहने दो। वे बहुत गरम हो गई हैं।' बात वहीं थम गई।

किया क्या जाए?

घर लौटते समय मुझे लगा : 'ऐसे प्रसंग में मौन रहना ही सही सबक है। बच्चों को लेकर माँ-बाप ही लड़ पड़ें तो एक नया झंझट खड़ा हो जाता है।

❑

चित्रशाला से दौड़ते हुए आकर मोती, चंपक और लीलू मुझसे लिपट गए, मुझ पर लद गए। उनकी आँख से प्रेम बरस रहा था।

मैंने कहा : 'चलो अब परोसने चलना है।'

तीनों बालक भोजनशाला में परोसने के लिए दौड़ पड़े।

मुझे महसूस हुआ कि इन बालकों में कितना जबर्दस्त बदलाव आया है! पहले यही बच्चे काम करने वाले कक्ष में आते ही नहीं थे। कक्ष में लाया जाता तो चिल्लाने लगते, भागने की कोशिश करते।

मैंने अपने से पूछा : 'तो क्या इन्हें जबरन काम में लगाया है। तो क्या इसी वजह से ये काम को और मुझको चाहने लगे हैं? नहीं, प्रेम कभी जबरन उत्पन्न नहीं हो सकता। वह तो दिल की गहराई से ही निकल कर बाहर आना चाहिए। यही बात काम के प्रति रुचि प्रकट होने पर लागू होनी चाहिए।'

तब? सचाई तो यह है कि 'जबरन' शब्द का प्रयोग करना ही मेरी भूल थी। मैंने इन्हें सचमुच 'जबरन' काम पर लगाया ही नहीं होगा। इन्हें स्वयं ही काम करने की और सबसे मेलजेल बढ़ाने की जरूरत थी, पर दूसरे बालकों में

रल-मिल जाने की इनकी आदत नहीं थी। जब तक कोई इन्हें दूसरे बालकों से मिला न दे, कोई काम सौंप न दे, तब तक इनकी अलग खड़े रहने की ही आदत थी। इनकी इस आदत को दूर करने के लिए सख्ती बरती गई थी। सख्ती बरतने से जब इनकी आदत दूर हो गई तो इनका भीतर से काम करने का मन बाहर आया। इन लोगों ने काम में हिस्सा लिया और काम के आनंद से आनंदित होकर काम सौंपने वाले व्यक्ति को—अर्थात् मुझे अपने अच्छे मित्र की तरह पहचानने लगे। ऐसे में अगर वे मेरे पास आकर जोर से लिपट न जाएं तो कैसा आश्चर्य ? मुझे लगा कि आज तलक मैंने जो इन्हें 'जबरन' कक्ष में दाखिल नहीं किया और काम नहीं सौंपा, तो वह मेरी ही गलती थी।

❑

मुझे तो कहानी कहना अच्छा लगता है। 'प्रदर्शन पद्धति' की बातें करना मैं शिक्षाशास्त्रियों और चिंतकों पर छोड़ता हूँ। जिस कला में हम विकसित होंगे, वही तो करेंगे न ? बेकार ही दूसरों के क्षेत्र में क्यों दखल दें ?

कहानी ही लिखी जाए। एक बार इस वेग को ही दौड़ लेने दिया जाए, तभी दूसरे विचार अच्छी तरह से लिखे जाएंगे। जब 'बालक व पुनर्जीवन के निमित्त' यों सोच कर लिखने बैठते हैं तो सारे विचार हवा हो जाते हैं, लगता है जैसे हम इस बारे में कुछ भी नहीं जानते। जब हवा के प्रतिकूल चलना पड़े तो भला नाव कैसे चल पाएगी ? आज तो मैं अपने (कहानी) कहने के पवन से पाल भर कर नाव को हाँके जा रहा हूँ। लेकिन जो लिखने में आ रहा है उसे 'यों प्रस्तुत करना चाहिए' तथा 'उससे पार निकल जाना चाहिए', इन बातों के लिए स्वयं को कहाँ रोकूँ ? पर मैं भी कहानी कहने के बजाय विश्लेषण-विवेचन में कहाँ फँस गया ? वस्तुतः मैं विवेचन-विश्लेषण भी करना चाहता हूँ और वह भी लिखकर या कह कर ! तो अब कहानी ही लिख रहा हूँ।

कहानी

एक था चिड़ा; और एक थी चिड़िया। दोनों मिलकर घोंसला बना रहे थे। एक तिनका चिड़िया उठाकर लाती, एक तिनका चिड़ा उठाकर लाता। घर में एक झरोखा था। उसमें एक घोंसला था। बड़ा ही सुंदर और मजेदार

घोंसला। उसके अंदर गोलाकार पाँखें और कई चीजें सजाई हुई थीं, इसीलिए बड़ा नरम-नरम था घोंसला।

छोटी बेटी बोली : 'माँ, यह चिड़िया घोंसला क्यों बना रही है ?'

माँ : 'अंडे रखने के लिए।'

बच्चे : 'अंडे कब रखेगी ?'

माँ : 'अभी दो-एक दिनों में।'

बच्चे लोग बार-बार निसैनी लगाकर चढ़ते और अंडों की तलाश करते।

बड़े भैया का नाम बचु, एक बहन का नाम टीकु और एक का नाम बबली।

बीच में बातचीत

बबली बोली : 'मुझे बबु बहन कहिए ना, बबली क्यों कहते हैं ?'

बचु, बबु, और टीकु ये मेरे बच्चे हैं। मैंने इनको ही कहानी के पात्र के रूप में ढाल दिया था। कहानी सुनते-सुनते जब बबु को बबली कह दिया गया तो वह उपर्युक्त रीति से बोल उठी थी।

बबु को बबली कहना जरा भी नहीं रुचता। अगर भूल से कहीं कह दें तो सुधरवाती है। उसको अपना आदर करवाना इतना ज्यादा पसंद है कि वह दूसरों को भी आदरपूर्वक संबोधित करती है। बचु को बड़े भैया, सुशीला को बड़ी बहन और टीकु को नीलू कहना हर्गिज नहीं भूलती। इन सम्मान-सूचक शब्दों का प्रयोग इसी ने शुरू किया है और खुद कभी भूलकर भी नहीं बोलती।

स्वयं को आदर दिलाने के लिए दूसरों को आदर देने की बात बहुत लोग समझते हैं। एक छात्रालय के गृहपति विद्यार्थियों को इसलिए पहले नमस्कार करते थे ताकि विद्यार्थी उन्हें पहले नमस्कार करने लग जाएँ। मैंने भी इस विधि को आजमा कर देखा था। पर हुआ यह, कि जब मैं नमस्कार नहीं करता तो विद्यार्थी भी नमस्कार नहीं करते इसलिए मैंने आदर देने के संस्कार देने की विधि को त्याग दिया।

कहानी

बड़े भाई का नाम बचु, छोटी बहन का नाम नीलू और मझली बहन का नाम बबु। दो दिन गुजर गए। तीसरा दिन आया। बच्चों ने बिस्तर से उठकर झरोखे में झांका तो अंडे—तीन अंडे।

'अंडे, अंडे, अंडे!' बच्चों ने घर में खलबली मचा दी। उन्होंने पहले-पहल अंडे देखे थे।

पिता को शोर की वजह से लेख लिखने में बाधा पड़ी, माँ को शैतानी और उत्पात लगा; पर बालकों के मन में तो दीवाली जैसा आनंद था।

थोड़े दिन और बीते कि अंडों में से बच्चे बाहर निकले। घोंसले में चूं चूं चूं होने लगी।

बचु बोला : 'एक बच्चा मेरा।'

एक बच्चा टीकु ने रखा और एक बबु ने रखा।

बच्चे घोंसले में बैठे रहते और मजे करते। चिड़िया आती और दाने लाकर खिलाती। बच्चे भी उनको दाने खिलाते।

बच्चे धीमे-धीमे घर में उड़ने लगे। एक दिन एक बिल्ली आई और एक बच्चा खा गई।

बीच में बातचीत

बबु : 'मेरे बच्चे को नहीं।'

कहानी

बिल्ली बचु का बच्चा खा गई। दूसरी बिल्ली आई और दूसरा बच्चा खा गई। किसका बच्चा खाया होगा ?

बीच में बातचीत

बबु : 'टीकु का बच्चा खा गई।'

कहानी

बिल्ली टीकु का बच्चा खा गई। सिर्फ एक बबु का बच्चा बाकी बचा। सब बच्चे मिल जुल कर उसकी देखभाल करते और उसे खिलाते। वह सभी को प्यारा लगता था। लेकिन एक बार फिर से बिल्ली आ धमकी और ...'

बीच में बातचीत

बबु : 'पर मेरे वाला बच्चा तो उड़ गया था ?'

कहानी :

बबु वाला बच्चा उड़ गया।

बबु ने अपना बच्चा किस चतुराई से बचा लिया यह देखकर मैं तो हैरान रह गया। बबु टीकु को बहुत चाहती है। एक बूढ़ी स्नेहिल माँ की तरह वह उसकी देखभाल करती है। बाल मंदिर में टीकु उद्योग-कक्ष में रोती हो तो उसे देख कर बबु का भी गला भर आता है। काम वाली जमना बहन से वह कहेगी : 'जरा जाओ न, इसे माँ के पास छोड़ आओ न ?'

बबु का टीकु से बहुत ज्यादा हेत है लेकिन जहाँ यह सवाल आता है कि स्वयं उसके वाला बच्चा मरे या टीकु का, वहाँ कोई परवाह नहीं, भले ही बिल्ली टीकु वाला बच्चा खा जाए, अपने वाले बच्चे को तो उसे उड़ा ही देना है। बाल-स्वभाव का कैसा सुंदर दिग्दर्शन है!

पहले खुद, बाद में दूसरा, यह वृत्ति बालक में दिखाई देती है। खुद को जरूरत न हो तो बुद्धिमानी और न्याय खरी, उदारता खरी, लेकिन अगर खुद को जरूरत हो तो ? तो बात दूसरी ही!

क्या इसे बालक का स्वार्थपन कहें ? बबु के सामने वस्तुतः यह सवाल मुख्य था कि दूसरे के बच्चे को मार डालने की बात सोचने से पहले अपने वाले बच्चे को वह कैसे बचाए ? वह अपनी रक्षा चाहती है और ढूँढती है। स्वरक्षण की शक्ति प्राप्त करने के बाद ही पर-रक्षण हो सकता है।

बबु इस दुर्भावना से दूर है कि किसी के बच्चे को बिल्ली आकर मार डाले तो अच्छा रहे! जब बिल्ली बच्चों को मारने आई तब दूसरों के बच्चों को बचाने के लिए अपने बच्चों को खाये जाने की भव्य उदारता उसने नहीं दिखाई। उसको अपने वाला बच्चा पसंद है। वह कैसे मारा जाए ? दो बच्चों में दूसरों के बच्चों को मरने देने में जहाँ प्राथमिकता देने का सवाल आया वहाँ वह दूसरों की बजाय अपना सोच करती है, यह स्पष्ट है। इसी कारणवश वह अंत में अपने बच्चे को उड़ा देती है।

यह अंतिम विचार बेशक उसने दूसरों की तुलना में करते हुए ही किया होगा ?

जिस तरह वह स्वसम्मान के लिए दूसरों को सम्मान देती है क्या उस तरह अंत में वह यह समझ पाएगी कि उसका अपना रक्षण दूसरों की सुरक्षा और कुशलता में ही निहित है ? क्या बबु के मन में यह विचार कभी जागेगा कि बिल्ली स्वयं भय का रूप है अतः वह दूसरों के बच्चों को खाएगी तो उसके बच्चों के लिए भी खतरा तो खड़ा ही है, ऐसे में अपने वाले एक बच्चे को बचाने की इच्छा रखने के बजाय सभी के बच्चों को बचाने के निमित्त सभी को एक साथ मिलजुल कर बिल्ली को भगा देना बेहतर होगा ?

मेरा अनुमान है कि उत्तर 'हाँ' में आएगा। पर अब इस लंबी बात को क्यों बढ़ाया जाए ? कहानी के बारे में ही क्यों न आगे कहा जाए।

बबु ने अगले दिन यही कहानी सुनने की माँग की। मैंने सोचा कि क्यों न आज उसके वाले बच्चे को मरवा दिया जाय, देखें उसे कैसा लगता है ? पर मैंने उसके बच्चे को मरवा देने का विचार क्यों किया ? क्या मैं टीकु के प्रति किए गए उसके अन्याय को सहन नहीं कर पाया ? अथवा इस संबंध में मेरे पास सिर्फ मनोवैज्ञानिक का ही दृष्टिकोण था ? कौन जाने ! वैसे तो चिड़े-चिड़िया की जो कहानी कहने के लिए चुनी थी, उसका भी कोई आंतरिक प्रयोजन हो सकता है और होगा भी। अपने भीतर के किन-किन कारणों से कोई कहने वाला कहानी कहता है, यह तो अनुसंधान का विषय ही है। 'रखडुं टोळी' (डॉमिनीज फाइव) वाली कहानी बालकों के निमित्त रची गई, इसके पीछे ए.एस. नील के मन में क्या विचार थे, उनका विश्लेषण-विवेचन एक विद्वान ने किया था; नील उसे प्रकाशित भी करना चाहता था। कथा-लेखक या कथा कहने वाले का अंतर्मन कहानी में अभिव्यक्त होता ही है। 'ग्रेडिवा' की कहानी से, जिसका विवेचन फ्रायड ने किया था, उसके रचनाकार की मनोदशा को खोजा जा सकता है। 'चिड़े-चिड़िया' की कहानी से अगर कोई उसे कहने वाले की कोई शोध करे तो ? अव्वल तो मैं यही कहूँगा कि बालकों के मनोरंजन के लिए ही मैंने यह कहानी गढ़ी थी। अथवा मैंने परोक्ष रूप से बालकों के सामने एक दूरी से प्रजनन की बात प्रस्तुत करने हेतु कहानी कही थी। लेकिन....लेकिन मेरे इस विवेचन को मैं यहीं छोड़े दे रहा हूँ।

दूसरे दिन कहानी सुनाई गई। आखिर में यों हुआ :

कहानी :

'तीसरी बार बिल्ली आई और....'

बीच में बातचीत

बबु : 'बच्चा तो उड़ गया ?'

कहानी :

'नहीं, बच्चे ने उड़ने की बहुत कोशिश की, पर बिल्ली उसे पकड़ कर ले गई।'

बबु को कहानी पसंद नहीं आई। अगर उसी का बच्चा कहानी में खाया जाएगा तो ऐसी कहानी उसे हर्गिज नहीं चाहिए थी। बबु अब इस कहानी की माँग नहीं करती।

आजकल तो वह गुब्बारे वाली कहानी माँगती है, लेकिन इधर दो दिनों से यह बात तय हो गई है कि सोमवार को गुब्बारे लेने चलना है इसलिए अब कहानी पर जीना बंद हो गया है। आज दुपहर गुब्बारे लेने जाना है। मुझे देखना है कि गुब्बारे मिल जाने के बाद गुब्बारों की कल्पना की जरूरत महसूस होती है या नहीं ?

मुझे कहानी कहने का शौक है। मैं इसमें नए-नए प्रयोग करता रहता हूँ। पर नील की कहानी कहने की मौलिकता अद्भुत है। सामने बैठे कहानी के श्रोताओं में से ही पात्र उठा लेने की उसकी जबर्दस्त खूबी है। दूसरी खूबी है श्रोताओं के बीच चलने वाली बातचीत में से अपनी कथा के सूत्र बुनते चलना।

कहानी में एक प्रसंग आता है कि एक आविष्कारक ने नये किस्म की मोटर ईजाद की थी। बच्चों को उसमें बैठ कर जाना था। पर रेडियम के बगैर कार चल नहीं सकती थी। पिक्रेफ्ट नामक एक अमेरिकी करोड़पति रेडियम ला देता है। जब कार के बारे में बातचीत चल रही थी तो श्रोता बालकों ने पूछा : 'क्या उस कार में मशीनगनें थीं ? जरूर होंगी। बताइये न !'

नील ने इस प्रश्न का लाभ उठाते हुए कहानी को आगे बढ़ाया।

पिक्रॅफ्ट : 'उस थंभे के पास क्या है ?'

नील : 'वहाँ मशीनगनें हैं। इस कार में तीन मशीनगनें हैं एक वहाँ, एक रसोईघर में और एक हाँकने वाले के पास।'

नील अपनी कहानी में बहुत सारी बातें कह देता था। बाल मनोविज्ञान की बातों का तो पार ही नहीं था। फिर भूगोल की, इतिहास की, विज्ञान की, नये-नये देशों की, खोजों और यंत्रों की, आज के सुधारों की और ऐसी-ऐसी कितनी ही बातें जोड़ता चलता था, बड़ी ही सहजता के साथ। कहानी थोड़ी-सी भी भारी हुई नहीं कि तत्काल बड़ी आश्चर्यजनक रीति से वह ऐसा रस डाल देता था कि सब स्तब्ध होकर सुनते रहते।

बालक अफ्रीका के प्रवास पर निकले थे। प्यास लगी थी कार में पानी नहीं था। नील से वे वायरलेस द्वारा बातें करते हैं। नील उन्हें बताता है कि पानी कहाँ रखा है; बाद में अनुसंधानकर्ता वायरलेस द्वारा बालकों को समझाता है कि पानी के संचों की बनावट कैसी है।

पानी ऑक्सीजन और हाइड्रोजन से बनता है। ये दोनों हवा में मौजूद रहते हैं। दोनों पदार्थों को संचा इकट्ठा करता है और बिजली की मदद से रेडियम उनसे पानी बनाता है।

यह विवेचन शास्त्रीय था, क्योंकि इसमें पानी बनाने की सिद्धांत-चर्चा थी। डोनाल्ड नामक बालक ऊबने लगा था। नील ने बड़े ही कौशल से उसे उठाया और कहानी को आगे बढ़ाया।

डोनाल्ड ने रास्ते में छिपे बैठे एक जानवर की तरफ उंगली उठाई और चीखते हुए कहा : 'वहाँ वह क्या है ?'

डैरिक गरज उठा : 'सिंह !' उसने हाथ में पिस्तौल ले ली।

बहादुर डोनाल्ड बोला : 'खबरदार, यह मेरा शिकार है। मैंने इसे पहले देखा है। गिल्बर्ट! रिवॉल्वर, राईफल और तलवार देना !'

किस कौशल से नील ने डोनाल्ड को झोंके खाने से बचाया ?

वार्ताकार की तरह नील ने यों नहीं कहा : 'अरे भाई डोनाल्ड! ध्यान दे न', 'सुन डोनाल्ड! आगे फिर यों हुआ', 'अरे डोनाल्ड नींद ले रहा है; इसे मजा नहीं आ रहा। जा डोनाल्ड, बाहर जाकर सो जा', 'ध्यान देना डोनाल्ड, आगे क्या हुआ था।'

नील का बखान बहुत हो गया। 'रखडुं टोळी' पुस्तक के विज्ञापन के लिए इतना कहना काफी है।

❑

मेरे मित्र जयंतिलाल ने कहा : 'पोलैंड के लोग बहुत आगे बढ़े हैं। इन दिनों तो वहाँ के कवि, दार्शनिक, गायक विश्वविख्यात हैं। स्लाव जीनिअस (प्रतिभा) में दोनों बातें हैं : बुद्धि और भावना। विलियम जेम्स ने पोलैंडवासियों को 'The Fiery Slave' कहा था।'

मैं बोला : 'वाकई Fiery तो हैं ही ! पोलैंड के भेड़िये विश्वविख्यात हैं। उनका शिकार करके लोग Fiery (उग्र) बन गए।'

हम खूब हँसे।

मैंने पूछा : 'पर इस समय हमारी जीनियस किसमें है' ?

उन्होंने जोर से हँसते हुए कहा : 'मृत्युभोज जैसी कुरीतियों में और सीमंतोन्नयन संस्कारों में।'

हम बहुत हँसे, पेट पकड़ कर हँसे।

मैं बोला : 'आपको ऐसा नहीं लगता कि हमने अपनी गाँठ की अकल ही गँवा दी ?'

जयंतिलाल : 'पर यही तो हमारी जीनिअस है।'

❑

मृत्युभोज और सीमंतोन्नयन संस्कार सामाजिक सुधारों के विषय हैं या शिक्षा के ?'

मृत्युभोज करने वाला अर्थात् शास्त्रों की बातों में अंध आस्था रखने वाला (the credulous fool); सीमंतोन्नयन संस्कार करने वाला अर्थात् समाज का गुलाम (the social slave)।

इन्हें कौन मुक्त कर सकता है ? जिस व्यक्ति को मुक्ति की अंत:शक्ति न मिली हो, क्या उसे समाज के नियम मुक्ति प्रदान कर सकेंगे ?

क्या शास्त्र-विरोधियों का विप्लव हमें सही विचारधारा पर ला सकेगा ?

अगर बालक को पहले से ही तर्क सम्मत विचार करने की तथा सत्य कल्पना की शिक्षा दी जाए, तो ? मनुष्य को व्यक्ति-स्वातंत्र्य की शिक्षा दी जाए तो ?

जब मनुष्य ऐसा सोचने लगेगा कि 'शास्त्रों में चाहे जो लिखा गया हो पर क्या मेरी अक्ल गाँव गई है ? मैं तो उसी का अनुसरण करूँगा जो मुझे प्रत्यक्ष सत्य लगेगा' तो क्या मृत्युभोज जीनिअस का अंत हो जाएगा ?

'समाज के साथ चलते हुए मैं विचार और क्रिया की स्वतंत्रता खो बैठा हूँ और एक पंगु-गुलाम बन गया हूँ' जब आदमी का सोच इस प्रकार का हो जाएगा तो क्या सीमंतोन्नयन संस्कार जीनिअस का अंत हो जाएगा ?

मुझे तो इसका समाधान शिक्षा में ही नजर आता है, सच्ची शिक्षा में। अगर कोई पूछेगा कि कैसी शिक्षा में ? तो मात्र दो-तीन शब्दों में ही बता दूँगा कि शिक्षा अर्थात् 'स्वातंत्र्य एवं स्वयंस्फूर्ति की शिक्षा।'

❑

पर आज मैं सामाजिक सवालों पर नहीं सोच रहा हूँ। मैं तो बाल-मंदिर में पूरी तरह से डूबा हुआ हूँ। इसे छोड़कर दूसरी तरफ क्यों सोचूँ ? मुझे तो अपने बालकों को ही लेकर डायरी लिखने में ज्यादा मजा आएगा।

उस दिन लीलु, चंपक और रमण दौड़ते-दौड़ते परोसने के लिए भोजनशाला में गए थे। जब मैं थोड़ी देर बाद वहाँ पहुँचा तो क्या देखता हूँ कि :

एक सरकारी अधिकारी की बेटी लीलु (सत्ता Aristocracy), उसका कोई चंपक (सत्ता Aristocracy) और एक लश्करी व दीवानी अधिकारी का बेटा रमण (धन एवं सत्ता Aristocracy), एक शिक्षित एवं समाज-सुधारक पिता का पुत्र (विद्वत्ता, सुधार एवं शिष्टता (Aristocracy), एक शिक्षण संस्था के साधारण लेकिन विद्वान एवं प्रतिष्ठित नियामक का पुत्र बाबु (Prestige Aristocracy) : ये सब हाथों में झाड़ू उठाए कमरा बुहार रहे थे। मैं अपने साथियों को बुलाकर लाया और वह दृश्य दिखाते हुए कहा : 'देखो, यहाँ तरह-तरह की प्रतिष्ठाओं-सत्ताओं (Aristocracies) का उद्धार हो रहा है।'

❑

मैं घूमने का शौकीन हूँ पर रोजाना घूमने क्यों नहीं जाता, इसके अनेक कारण हैं। हाँ, जब मेरे एक मित्र मुझे लेने आते हैं तो मैं घूमने निकल जाता हूँ।

मेरे मित्र को बातें करने का बहुत शौक है। मैं अपनी बातें करने की अतृप्ति हेतु उनके साथ बातें करके तृप्ति का अनुभव करता हूँ।

बातें करते-करते रमेश और बाबु की चर्चा चल पड़ी। मित्र बोले : 'यह लड़का तो बड़ा ढोंगी निकला! ऐसे घराने का बेटा अंदर से इस कदर सड़ा हुआ ?'

मैं बोला : 'यह तो कबीर भी कह गए। ऊपरी टीप-टाप और चमक-दमक में विश्वास रखने वाले लोगों के बच्चे अगर ढोंगी नहीं होंगे तो कैसा आश्चर्य ? चमक-दमक तो ढोंग का बाहरी पहलू है।'

'पर इस हद तक ?'

'ऐसा ही होता है। जब आदमी सभ्यता का वास्तविक अर्थ भूल जाता है और सभ्यता का अर्थ ऊपरी टीम-टाम समझता है तो ढोंग बढ़ता है। सच्ची सभ्यता को तो अपना स्वरूप भीतर और बाहर एक ही तरह का रखना पड़ता है।'

'लेकिन ऊपर से 'जी' कहने वाले और अंदर से गंदे-गंदे विचार रखने वाले लड़के का क्या होगा ?'

'यह सवाल तो उसके माता-पिता से पूछने का है 'हम शिक्षण के द्वारा इन्द्रियों का विकास करते हैं, शारीरिक बल देते हैं, बुद्धि तीव्र करते हैं, ज्ञान देते हैं; कल्पना, क्रियाशक्ति इत्यादि शक्तियों को विकसित करते हैं; और निश्चय ही चरित्र के लिए सभी तरह की तैयारियाँ प्रदान करते हैं। परंतु अगर जन्म से घरों में ऐसी ही छाप पड़ेगी, घरों के कुटिल वातावरण से अगर रोजाना विधिवत शिक्षण की भाँति यही सब मिलेगा, तो वहाँ हमारा क्या प्रभाव शेष रहेगा ?'

'तब हमारे प्रयत्नों का क्या अर्थ ?'

'अर्थ तो वही जो हमें चाहिए। हम जो कर पाये और जो नहीं कर पाये वही। अगर हम आप दुनिया को सुधारने का दावा करते हैं तो हमारा पागलपन होगा। अगर दुनिया को सुधरना है, उसे सही ठिकाने आना है तो उसके लिए हमें सच्चा सहयोगी चाहिए; और लोगों को यही मान कर हमें वांछित वातावरण

देना चाहिए कि शाला के साथ-साथ घर भी चरित्र निर्माण के वातावरण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। तभी हमारे प्रयत्नों को कुछ फल मिल सकेगा।'

मैं घर आया। रमेश का विचार तो मेरे मन में चल ही रहा था। ऊपर से कैसा बालक! बाहर से कैसा धर्मचुस्त बालक! पर भीतर जो कुछ दबा पड़ा है, वह कहाँ जाएगा? आदमी भीतर से वाकई कैसा है, यह बात अमुक प्रसंगों पर बाहर आ जाती है। छोटे बच्चे रम्मतों और नाटकों के द्वारा प्रकट हो जाते हैं। उनका इच्छित जो नहीं हो पाता, बालक कहानी कहकर या नाटक द्वारा प्रकट करके उसे करने का आनंद खोजता है। उनको जो कुछ नहीं करने दिया जाता, उसे वे नाटक में दुगने उत्साह के साथ करते है; ऐसा ही होना चाहिए।

वस्तुतः नाटक एक कला है। वांछित वातावरण में कला के द्वारा मनुष्य की आत्मा अपने सही रूप में आविर्भूत होती है। 'जी' लगाकर बोलने वाला रमेश नाटक में अधिक तू-तुकार करता है। अमुक रीति से बैठना चाहिए और अमुक रीति से बोलना चाहिए, ऐसी सभ्यता का पालन करते-करते ऊबा हुआ रमेश नाटक में अधिक से अधिक अव्यवस्था दिखाता है। रमेश को देखकर कोई यों ही कहेगा कि यह बालक कितना शिष्ट है! इसका तो कुटुम्ब ही शिष्ट होना चाहिए! सच पूछें तो यह शिष्टता उसके परिवार की है। पर नाटक में रमेश अत्यंत गंवार (Most Vulger) दिखाई देगा। बफूनरी—भांडाई बताने में रमेश सबसे आगे जाता है अथवा सबसे होशियार है। धर्मचुस्त रमेश हमारे प्रवास में तो आ भी नहीं सकता, क्योंकि ब्राह्मणों वाला खाना उसके नहीं चलता। पर नाटक में वह मुर्गी के अंडे और गोश्त खाने की बातों में खूब रस लेता है। उसका वेश ऐसा लगता है जिसमें बीड़ी पीने का अभिनय करना पड़े या मारकाट करनी पड़े।

मैं जानता हूँ कि उसकी शक्तियों को विकसित करवा रहा हूँ, पर मेरी चिंता यह है कि इन शक्तियों को वह किस तरह उपयोग में लाएगा।

मेरे मित्र के साथ एक लड़की के बारे में भी बातचीत हुई थी। जब उन्होंने बताया कि 'वह लड़की बड़ी ही भावना से बकुल की माला दे जाती है' तो मेरे मन में उनसे यह कहने की बात आई थी कि 'इस तरह वह लड़की अपनी प्रदर्शन वृत्ति को पोषित कर रही है, उसे उत्तेजन नहीं देना चाहिए', लेकिन मैं गम खा गया।

घूमते समय उसकी बात भी चली थी। मेरे मित्र तो इस निर्णय पर पहुँच गए थे कि उस बालिका को पढ़ाना हो तो प्रदर्शन-पद्धति द्वारा ही पढ़ाया जा सकेगा। हम लोग ठहरे सिद्धांतकार, फौरन नया नाम धर दिया : 'प्रदर्शन पद्धति।' इसका मतलब यह था कि उस बालिका में दिखावा करके दिखावे का संतोष करने की, दूसरे देखकर प्रसन्न हों इसी में अपना आनंद समझने की, दूसरों की नजरों के सामने लाने हेतु पर्याप्त काम कर दिखाने की, संक्षेप में बाहरी दृष्टि से दूसरों के लिए काम करके देने की जबर्दस्त आदत पड़ गई थी।

मित्र बोले : 'अपने बल का प्रदर्शन करना हो तो पाँच बालकों के सामने वह अकेली खेलने खड़ी हो जाती है, पर देखने वाले न हों तो हर्गिज नहीं आती। खेलने में आनंद लेने के लिए नहीं अपितु अपनी शक्ति दिखाने के लिए उसे खेलना अच्छा लगता है।'

उस बालिका के बारे में मेरा अपना अनुभव कम नहीं है। कोई व्यक्ति मिलने आता कि वह बालिका तत्काल गायन-कक्ष में घुस जाती; बिना पूछे गाने लगती, और अपनी शक्ति का, अपने ज्ञान का प्रदर्शन करती। मन ही मन मुस्कराती भी, कि मुझे कितना सुंदर गाना आता है। पर ज्योंही मिलने वाला व्यक्ति बाहर जाता कि बालिका गाना बंद कर देती। चित्र बनाने में भी शायद ही उसने कभी आंतरिक उल्लास से सुंदर चित्र बनाया होगा। तब भी जब कोई आकर कहता कि 'यह लड़की तो फलां की है न?' बस, वह बालिका कोई सुंदर-सा चित्र बनाकर आगंतुक को अवश्य भेंट कर देती।

भला मैं किसी को भेंट देने से उसे मना कैसे कर सकता हूँ। उसे गाने से कैसे रोक सकता हूँ। जब गाने की अनिवार्यता नहीं है तो प्रतिबंध भी नहीं है। पर मैं स्वयं चलाकर उसे ऐसी आदत को भला प्रश्रय कैसे दे सकता हूँ? उसके गाने की प्रशंसा करना या उससे कोई चित्र भेंट लेना तो मेरे मन में उस बालिका के प्रति पाप ही होता। मैंने उसकी बाहरी आनंद लेने की वृत्ति का हर्गिज पोषण नहीं किया। मुझे लगा कि फूल भेंट करने की उसकी यही वृत्ति थी, अतः मैं उसे फूल लाने के लिए कहता ही नहीं था। उसकी सुंदर वेणी की प्रशंसा करके मैं उसे बहुर्मुखी भला क्यों बनाता? उसकी सक्षमताओं से मैं अवश्य मन ही मन खुश हो सकता था पर उसकी प्रशंसा करके पदक तो नहीं दिया जा सकता न?

जो काम मैं नहीं करता था, जिसे मुझे तो क्या किसी को नहीं करना चाहिए, वह उसके पिताजी ने किया था :

'वाह चंपा! तू कितनी सुंदर लगती है। इस वेणी से तो तेरी शोभा में चार चांद लग जाते हैं।'

'चंपा ऐसी बलवान है कि मुझे भी पछाड़ देती है। चार-चार लड़कों की बराबरी कर सकती है।'

'चंपा, चलो बेटा! गाना सुनाओ। वह नई तर्ज। चंपा ने आठ दिनों में अठारह गाने सीख लिये।'

'चंपा बड़ी सयानी है। रमा तो मेरी बेटी है ही नहीं। रमा क्या पढ़ती है, मेरा सिर! चंपा को तो मैं बंबई ले जाऊंगा।'

'चंपा ने कल कितना मधुर गाया? कोई लड़का इसके जैसी कसरत करके दिखा सकता है, भला? तुम लोगों ने तो खा कर ही बिगाड़ा।!

इस तरह उसके पिता ने चंपा को बहिर्मुख बना दिया। वह बाहरी प्रशंसा के लिए खेलती है, चित्र बनाती है, गीत गाती है। प्रदर्शन करने में उसे बहुत मजा आता है।

स्वार्थपूर्ति के लिए लोगों को खुश करने हेतु, अपने आंतरिक आविर्भाव के लिए नहीं अपितु प्रशंसा प्राप्त करने हेतु, जीवन की प्रबल भूख की तृप्ति के लिए नहीं अपितु वाहवाही हेतु, विकास के लिए नहीं अपितु लोगों के मनोरंजन हेतु अपने व्यक्तित्व का अथवा अपनी क्षमता किसी को दिखाने का नाम है वैश्यावृत्ति! प्रदर्शन के मूल में यही वृत्ति रहती है। जब हम प्रदर्शन का पोषण करते हैं तो जाने- अनजाने इस वृत्ति का पोषण करने लगते हैं।

मेरे मित्र को लगा कि बात सही है। माला देने में और उसे ग्रहण करने में अगर जाने-अनजाने इस वृत्ति को पोषण मिलता हो तो ऐसा करना इष्ट नहीं, ऐसा उन्हें लगा।

अब उसके लिए 'प्रदर्शन-पद्धति' ही रह गई है, ऐसा मैं नहीं मानता। अगर बालिका के माता-पिता उसका प्रदर्शन करना छोड़ दें और विद्यालय उसे आगे मदद न दें तो कुछ समय वह क्षीणप्राय हो जाएगी, नितांत निर्बल बन

जाएगी। यह तो वही बात हुई कि अधिक चर्बी वाला आदमी उपवास करने लगे तो वजन घटने लगता है। परिणामस्वरूप जैसे-जैसे स्फूर्ति और बल आने लगेगा वैसे-वैसे चंपा में आंतरिक जागृति आएगी और वह अधिक अच्छी लड़की बनने लगेगी।

पर क्या बच्चों के माता-पिता मेरे कब्जे में हैं? मेरी पकड़ में अकेली शाला ही हो, तो उससे क्या होना-जाना है।

❑

अभी चार बजेगी। मेरी प्रतिष्ठा देरी से उठने वालों में है। खास तौर से मेरे मित्रों ने मेरी यह प्रतिष्ठा चारों और फैलाई है, कारण यह कि उन लोगों की जल्दी उठने की आदत पड़ गई है। इसीलिए उन्हें देरी से उठने वाला नहीं सुहाता। वे तो देरी से उठ नहीं सकते इस वजह से उनको मेरे जैसे आदमी पर हँसना ही चाहिए।

सच मानें, न मैं जल्दी उठने वाला हूँ, न देरी से उठने वाला। मेरी जरूरत के मुताबिक मैं चाहे जब उठ जाता हूँ। जल्दी उठने वालों में और मेरे में कोई फर्क नहीं। बल्कि कदाचित मैं कम नींद लेता होऊंगा। परंतु ब्रह्म-मुहूर्त में उठने की महिमा उनके पक्ष में नहीं होती तो वे लोग मुझसे भी ज्यादा नींद-खोर गिने जाते।

जब काम करना सूझता है तो ब्रह्ममुहूर्त ही होता है और फिर जल्दी उठने का अपना निराला ही मजा होता है। इस समय मैं जल्दी उठने वालों का कैसा गुणगान (?) कर रहा हूँ। देरी से उठने वाले ने स्वयं अपना वैर ले लिया!

यह समय कितना अधिक शांत है? दुनिया भर का शोर सो रहा है। पक्षियों का प्रातःकालीन भजन अभी शुरू नहीं हुआ। मनुष्य-मंथन का उफान अभी स्थिर है। उठते ही चीखने-चिलाने और शोर मचाने वाले टीकु, बबली आदि गहरी नींद में खर्राटे ले रहे हैं। मात्र हवा सनसना रही है; घड़ी टिक-टिक कर रही है; चौकीदार खंखार रहा है। अभी कोई सलबलाया और करवट बदलकर सो गया।

उठते समय की और उठने के बाद की हमारी मनोदशा में बहुत अंतर होता है। उठते समय के आलस्य और उठ जाने के बाद की स्फूर्ति में बहुत फर्क होता है।

क्रियाशक्ति का बल वापरते हुए एक बार उठे नहीं कि फिर तो मजे ही मजे हैं। लेकिन जल्दी उठने की महिमा गाने से क्रियाशक्ति थोड़े ही आ जाती है। किसी को उठने की जरूरत न हो और जबरन उठाया जाए, तब भी क्रियाशक्ति नहीं आ पाती। किसी को अधिक मात्रा में नींद की जरूरत हो और पानी के छींटे डालकर उठाया जाए तब भी क्रियाशक्ति नहीं आती। बचु की स्कूलें खुली हों और उसके मन में सही समय पर हाजिर होने का विचार हो तो वह अपने आप उठ जाता है, पर स्कूल न जाना हो तो वह उठाने पर भी नहीं उठता। वह अपनी जरूरत के हिसाब से उठता है। सचमुच, काम हो तो देरी से उठने पर भी शायद ही वह वक्त पर पहुँचने में देरी करता हो।

पर मैं किसलिए जल्दी उठा? रात को टीकु को जल्दी सुलाया था। जल्दी सो जाए तो दूसरों को पढ़ने-लिखने का समय मिल जाए। पर टीकु को जागना था। फिर भी उसे झूले पर झुलाते-झुलाते सुलाया गया। तब भला उसे स्वस्थ नींद कैसे आती? तभी 'अँ अँ अँ' हुआ और ऐसे में झुलाया जाए तभी सो पाएगी वह।

लेकिन टीकु को एक और कारण से भी नींद नहीं आ रही थी। कहानी में बबु ने अपने वाले बच्चे को उड़ा कर बचा लिया था और टीकु के बच्चे को चलाकर मरवा दिया था। बबु को पलने में सोना अच्छा लगता है और टीकु मानती है कि पलना उसका है। तब भला वह उसे पलने में क्यों सोने दे? जब उसे पता लगा कि बबु पलने में सोने की बात कर रही थी, तब उसके लिए रात भर चौकीदारी करनी जरूरी हो गई। बस, वह पूरी नींद नहीं ले पाती। पलने से उठाते ही रोने लगती है। अपनी माँ से पूछती है : 'बबु पलने में नहीं सोई न?'

पलने की वजह से टीकु सोई नहीं, न मुझे सोने दिया। सब अपना-अपना इंतजाम करते हैं। बबु टीकु का बच्चा मरवा देने में उदार थी तो टीकु अपने पलने में बबु को न बैठने देने में उदार थी। दोनों के बीच मुझे जागना पड़ रहा था। नन्हें बच्चे भी कैसे कलजुगी? टीकु सवा दो वर्ष की, बबु पाँच वर्ष की।

गुब्बारों की खरीद हो गई। टीकु-बबु खुश हो गए। बजा-बजाकर अगले ही दिन फोड़ डाले। बबु अब बार-बार गुब्बारों वाली कहानी की माँग नहीं कर रही थी। अभी तो गुब्बारा-फलसफा बंद है।

चार दिनों पहले चाय-पानी चल रहा था। यह समय भी कैसा होता है। गप्पें मारते-मारते हम डरने-डराने की बातों पर चढ़ गए।

चंपा बोली : 'मैंने लखी को, जब वह छोटी थी, तब खूब डराया था। उसे झटपट सुलाना होता तो मैं कहती : 'सो जा, सो जा, नहीं तो यह आएगा और वह आएगा।' लखी जबर्दस्त डरपोक है। चौबीस बरस की है लेकिन अँधेरे में जाते डरने लगती है।'

मैंने कहा : 'लखी! हमारे घर के पास रोजाना सियार आते हैं और रात भर राफड़ मचाते हैं।'

वह बोली : 'तो मैं यहाँ नहीं रहूँगी। यों डरायेंगे तो चली जाऊँगी।'

मुझे लगा कि मैं क्या करूँ। यह हमारी भारत जननी है!

लेकिन जितेन्द्र बोला : 'मैं अब भी अँधेरे में भय की झाँकी महसूस करता हूँ। सब जानता हूँ कि इसमें डरने जैसा क्या है, पर बचपन से ही डर घुस चुका है।'

जितेन्द्र एम.ए., एस.टी.सी. है।

जितेन्द्र ने अपना बचाव करने का भी प्रयत्न किया : 'जब छोटा था, तो हेडमास्टर का नाम सुनते ही काँप उठता था।'

मैंने दूसरा उदाहरण दिया : 'नेपोलियन बिल्ली से डरता था। नंगी तलवार हाथ में तनी रहती और बिल्ली भाग जाती, पर नेपोलियन से उस पर वार ही नहीं हो पाता था!'

मैंने बाल्यावस्था के संस्मरणों में से कहा : 'अब भी मैं किसी की परछांई देख लेता हूँ तो भीतर से कहीं भय का आंदोलन भरा विचार आने लगता है कि 'क्या होगा?'

मैं छोटा था। भूत-प्रेतों की बातें सुनकर डरपोक बन गया था। एक बार पिताजी के जूते अँधेरे में पड़े थे। मैं डर गया कि पता नहीं कहाँ क्या है। मैं

उन्हें भूत समझ लिया। डर के मारे गूदड़ों में ओढ़कर सो गया और सवेरे तक बिना पेशाब किए लेटा रहा।

डर की बातें चली तो चल पड़ीं। सब कहने लगे : 'यह सच है कि बचपन में लगने वाला भय कभी नहीं जाता। हमें बच्चों को बाल्यावस्था में हर्गिज नहीं डराना चाहिए।'

बचु की माँ ने कहा : 'ठीक सही बात है। बचु को बचपन में हमने कभी नहीं डराया था, तभी तो वह आज तक नहीं डरता। पर बबली डॉक्टर का नाम आते ही डरने लगती है। एक बार डर गई तो डरने लगी। किसी डॉक्टर ने इसे टीका लगाया था। वह अनुभव बड़ा ही दुखद रहा। इसी से डॉक्टर का डर बैठ गया। अब डॉक्टर का नाम कान में पड़ते ही छिप जाती है, रोने कलपने लगती है। एक डॉक्टर से डरी थी, जिसका भय आज सर्वसामान्य हो गया। अब तो सभी डॉक्टरों से डरती है।'

मैं अब भी कुएँ के पास जाता हूँ तो पूरे शरीर में डर के मारे कँपकँपी होने लगती है। मैं किसी को कुएँ के पास नहीं जाने देता। कुएँ का डर दस बरस की उम्र में लगा था, आज चालीस का हूँ।

दरअसल मेरा कलसा कुएँ में गिर पड़ा था। घर जाऊँगा तो माँ मारेगी, इस डर के मारे मैं भी कुएँ में कूद पड़ा। कुआँ गहरा नहीं था। कलसा लेने के बाद वापिस कुएँ से बाहर नहीं निकल सका। आखिर गला फाड़कर रोने लगा। किसी किसान ने सुना तो आकर बाहर निकाला। बचपन के भय (Infantile rears) में कितना अधिक बल होता है! हमारा भय हमारे साथ ही समाप्त हो जाए तो अच्छा हो, पर मैं तो अपने बालकों में भी भय उतार रहा हूँ।

❑

कल मैंने नानाभाई* से पूछा : यह आपका मटु बालमंदिर में गले में गेंद बांधकर क्यों आता है? मुझे तो उसे देखकर हँसी आने लगती है।

* नानाभाई अर्थात् नृसिंहप्रसाद कालिदास भट्ट। वे श्यामलदास कॉलेज, भावनगर में प्रोफेसर थे तथा दक्षिणामूर्ति विद्यार्थी भवन के संस्थापक थे। गुजरात की अनेक शिक्षण संस्थाओं के जन्मदाता। बाद में राज्यसभा के सदस्य भी रहे। (अनुवादक)

नानाभाई : 'मटु तुम्हारे बालकों में खलबली मचाना चाहता है। वह कहता है : क्यों नानाभाई, अगर मैं सिर मुँडा कर जाऊँ तो सभी लड़के मुझे देखने के लिए इकट्ठे हो जाएँगे और हँसेंगे, सही है न?'

मटु को ऐसा महसूस होता है कि वह दूसरे लड़कों से न्यून है। शायद उसमें अल्पतानुभव ग्रंथि घर कर गई होगी। (Inferiority complex), अथवा वह विनोदी प्रकृति का होगा? कह पाना मुश्किल है।

❑

'रखडुं टोळी' (डॉमिनीज फाइव) का अनुवाद धीमी गति से चल रहा है, पर चल जरूर रहा है। समय की कमी तो इतनी ज्यादा है कि यही नहीं हो रहा है। पर इसका विषय मजेदार है और इस काम को करने में मजा आता है, तभी तो थोड़ा सा समय भी निकाला जा रहा है। यह काम श्रमदायक की बजाय श्रमहर बन गया है। श्रम-अश्रम का आधार काम में रस-अरस पर निर्भर करता है। रस नहीं होगा तो आप थकेंगे ही।

❑

अगर मैं अपने आप को ए. एस. नील की समता में बिठाना चाहता हूँ तो छिपाऊँ क्यों? नील को उसके विद्यार्थी 'मूर्ख', 'गधा' कहकर संबोधित करते थे। मुझे भी कोई-कोई बालक अपनी मौज में आकर 'गिजुभाई गांडा' कह जाते हैं। 'गांडा' कहकर वे मुझसे अपना प्रेम ही प्रकट करते हैं। 'गांडा', 'गांडुं' अपने आप में हैं क्या? 'गांडो' अर्थात् 'पगला' (Mad Man)। पर शब्द के पीछे निहित भाव-भाव में फेर होता है। उल्टे-शब्द अधिक गहरे और बलवान भावों को प्रकट करने हेतु उपयोग में लाना हमारे स्वभाव में है।

पर नील को उसके बालक मूर्ख कह सकते थे। मैक्डोनल्ड को नहीं। मैक्डोनल्ड बाहरी व्यवस्था चाहता था, बालकों को वह दूर ही रखता था। वह बालकों के हृदय के समीप नहीं जाता था। उसके लिए बालकों का महत्त्व बहुत कम था। मैक जिन्हें शैतान लड़के कहता था, वे नील के यहाँ बहादुर और नेक दिल बालक माने जाते थे।

शाम पड़ती और रोजाना बबु कहती : 'आधी रात को।' मेरा ध्यान कहीं और होता या किसी की बातों में होता तो वह बार-बार कहती : 'आधी रात को, होऽऽ'! मैं उसे कहता : 'ठीक है' और तब बबु शांति से सो जाती।

टीकु कभी-कभी समझ जाती तो कभी नहीं भी समझती। समझ जाने पर वह 'उं उं' करती।

'नहीं टीकु, आधी रात को नहीं, होऽऽ; यह तो मैं यूं ही कह रही थी।'

टीकु बात भूल जाती।

यह 'आधी रात को' भला क्या था ?

बबु को पलने में सोना अच्छा लगता था। टीकु छोटी थी इसलिए पलने में सोने का हक पहला उसका था। इस बात को सब समझते-मानते थे। बबु को तो मेहरबानी से ही सोने का मौका मिल सकता था।

टीकु को इस बात का पता लग गया था कि बबु पलने में सोती है इसलिए वह रात भर पलने में सोई रही, बाहर निकली ही नहीं। रात भर घबराहट में निकाली।

बबु ने कह दिया था : 'मैं पलने में नहीं सोऊंगी होऽऽ, टीकु!' इसी से टीकु बेफिकर होकर सो रही थी।

बबु को टीकु देखे नहीं और उसे पता भी न चले और सोने को भी मिल जाए; इसी विचार से 'आधी रात को' शब्द निकले थे।

सवेरा होते ही अगर बबु पलने में नहीं होती तो पूछती : 'आधी रात वाली बात भूल गए क्या ?'

मैं कहता : 'लेकिन टीकु जाग रही थी।'

टीकु जाग रही थी, इसका पता लगते ही बबु का समाधान हो जाता।

बबु टीकु से चोरी-छुपे व्यवहार चाहती है, टीकु को बबु से ईर्ष्या है। ईर्ष्या आई, हिस्सा बँटाने की बात आई या फिर चारे-वृत्ति पैदा हुई। क्या आपस के विरोधी स्वार्थ में से यह वृत्ति पैदा होती है ?

❑

आजकल गुब्बारे की बातें नहीं चलतीं। गुब्बारे को भुला दिया गया है। कारण ? न मालूम। आजकल तो कोई लेने की बात ही नहीं करता।

फिर भी ऐसा नहीं कह सकते कि बबु का शौक घट गया है। कहानी की तो माँग वह करती ही है। आजकल की खास कहानी 'मोटर और घोड़ा' है। इस कहानी को बार-बार सुनाते-सुनाते मैं इस कदर उकता गया हूँ कि उसे यहाँ प्रस्तुत करने का मन ही नहीं है। मात्र उसका सार लिख रहा हूँ।

'घुड़सवार जा रहा था। भर्रर्र करती मोटर सामने से आई। घोड़ा चमक कर भाग गया और सवार नीचे गिर पड़ा। घुड़सवार को उठाकर मोटर में बिठाया गया। तब मोटर ने उस भागते हुए घोड़े का पीछा किया। आगे-आगे घोड़ा और पीछे-पीछे मोटर। भड़का हुआ घोड़ा मोटर को देखकर और भड़क उठा। जोर से भागा। आखिर जब मोटर रुक गई तो घोड़ा भी रुक गया। होले-होले मोटर घोड़े के पास गई। घुड़सवार नीचे उतरा। उसने घोड़े की लगाम पकड़ी। फिर से आगे-आगे घोड़ा चला, पीछे-पीछे मोटर। इस तरह मोटर, घोड़ा और घुड़सवार एक-एक कर सब अपने घर जाते हैं और कहानी पूरी होती है।'

इस कहानी में बड़ों को बिल्कुल मजा नहीं आएगा क्योंकि उनके मजे के लिए इसमें कुछ नहीं है। लेकिन बबु और बाल-मंदिर के सभी बच्चों ने इसमें बहुत आनंद लिया। कारण ? कारण यह है कि इस कहानी में क्रिया (Action Story) के तत्त्व हैं। इसमें क्रिया ही कहानी है। कथा की बुनावट अद्‌भुत (Romantic) है। घोड़े और मोटर की दौड़मदौड़ बच्चों का खूब मनोरंजन करती है।

बड़े लोग चाहे जो कहें पर मैं तो इसी को सच्ची कहानी कहता हूँ। बच्चे लोग जिसे रस ले-लेकर सुनें वही तो बाल-कहानी होगी। मैं बाल कहानियों की पुस्तकों में संग्रहीत करके जो प्रकाशित करता हूँ, वे सभी बाल-कहानियाँ नहीं होतीं।

❑

जब हरभाई घूमने आते हैं तो नई-नई बातें कहते हैं। वे मजे ले-लेकर भजिया-क्लब शुरू करने की चर्चा चलाते हैं। मैं उनके प्रस्ताव को उत्साह से

आगे बढ़ाता हूँ। हम पुराने साथी हैं। हमें ऐसा नहीं लगता कि विद्वत्ता में, शक्ति में और भजिये खाने में किसी तरह का विरोध है। उल्लू की तरह भारी-भरकम चेहरा ताने रखकर दिन-रात शिक्षाशास्त्र की ही चर्चा करते रहना किसे अच्छा लगेगा ? भजिये की बात शिक्षाशास्त्र के पारे को हल्का करती है। मैं चाहता हूँ कि हरभाई भजिया-क्लब बनाएँ। हरभाई अपने मित्र से इस पर कविता लिखवाएँगे। गिरीशभाई इस पर दोहे लिखेंगे और हरभाई डॉल्टन प्लान से भजिये कैसे बनते हैं, इस विषय पर व्याख्यान देंगे ही। मोंटेसरी के स्वातंत्र्य और स्वयंस्फूर्ति के साथ ही भजिये खाये जा सकते हैं, अन्यथा पाचन या खुराक विकृत होने की आशंका रहेगी, ऐसा मैं सब को बताऊँगा। 'श्री दक्षिणामूर्ति' के गंभीर लेखों तथा अध्यापन मंदिर के भारी-भरकम व्याख्यानों के विरुद्ध क्या भजिया-क्लब एक जिहाद नहीं है ? क्या हरभाई और मैं इन सबसे ऊब गए हैं ? अथवा त्रैमासिक और अध्यापन मंदिर में क्या भजियों को लेकर मनोविनोद करना चाहिए ? कई लोग कहते हैं कि त्रैमासिक में हल्के लेख हों, कदाचित ये सभी भजियों की बातें नहीं करते ?

❑

पर हरभाई मनोविज्ञान पर बोलते हैं। वे विवेचन-विश्लेषण भी करते हैं तथा आर्थिक प्रकरणों की अंतिम रिपोर्ट देखते हैं।

बारह महीनों पहले एक व्यक्ति ने उनके माध्यम से जो दान भेजा था, वह उन्होंने अपने एक कर्मचारी को जमा कराने के लिए सौंपा था। उनको लगा कि कर्मचारी ने शायद राशि जमा नहीं कराई। हरभाई रिपोर्ट के नाम देख गए, पर उस दानदाता का नाम मिला नहीं। फिर से पढ़ा तो वही नतीजा निकला। दो-तीन बार सँभल कर नाम पढ़ा, लेकिन दिखा नहीं। हरभाई कर्मचारी से बोले : 'वह राशि जमा नहीं हुई दिखती। रिपोर्ट में दाता का नाम नहीं है।' कर्मचारी ने भी नजर डाली, गौर से देखी, पर नाम नहीं मिला।

हरभाई को शंका हुई। फिर से रिपोर्ट देखकर निश्चय कर लिया कि नाम नहीं है।

आधे घंटे बाद मैनेजिंग ट्रस्टी के कर्मचारी ने हरभाई को रिपोर्ट दिखाते हुए कहा : 'यह यहाँ रहा। दाता का नाम पहले से तीसरे नंबर पर है।'

हरभाई कहने लगे : 'संदेह पैदा होने से आँखों ने काम नहीं किया। शंका क्या आ गई, निश्चय ही हो गया।'

मुझे लगता है कि यह किस्सा स्व-सूचन (auto-suggestion) का है। हरभाई ने रिपोर्ट पढ़ते ही मानो स्वयं को सूचित कर दिया होगा कि रकम जमा नहीं हुई होगी अतः नाम भी नहीं छपा होगा। बस, तभी से आँख धुँधली हो गई। स्व-सूचन अच्छा भी होगा, पर यह बुरा और भयंकर भी होता है।

❑

हमारे बीच चर्चा चल रही थी कि 'हमें आजकल के व्यापारिक बुद्धि से—स्वार्थ बुद्धि से चलने वाले अखबारों में अपने लेख नहीं भेजने चाहिए।' बात ठीक थी। हमें साहित्य में वैश्य-वृत्ति को प्रविष्ट नहीं होने देना है। साहित्य को व्यापार की चीज नहीं बनने देना है।

लेकिन अगर एक अखबार का मित्र-संपादक दूसरे अखबार के मित्र-संपादक से स्वार्थ-पूर्ति न होने पर मधुर रिश्ता नहीं रखता और हमसे कहता है कि यह दूसरा संपादक स्वार्थ-बुद्धि है अतः आप इसे अपनी रचनाएँ मत देना तो क्या हमें दोनों मित्र-संपादकों को नाराज करना चाहिए ?

पर अगर हम नया बहाना ही बनाएँ तो ? क्या हम यों नहीं कह सकते कि 'हमारे पास पहले ही समय बहुत कम है', 'हमें तो कई-कई अखबारों में लिखना पड़ता है', 'लिखने की फुरसत ही नहीं मिलती' आदि-आदि। क्या यह सच होगा ? भले ही हम खाली न हों पर ऐसा लिखना कहीं अपने मित्र-संपादक को नाराज न करने की साहसविहीनता तो नहीं है ? हम कार्य-कारण का सही सम्बंध जोड़ते हैं या तोड़ते हैं ?

क्या हम भी अखबार चलाने में फायदा, ग्राहकों की वृद्धि, संख्या की वृद्धि, प्रसिद्धि, सफलता आदि नहीं चाहते ?

❑

कल मुझे सपना आया। मैं उकताया-ऊबा-सा प्रूफ देख रहा था। अर्थ स्पष्ट है। प्रूफ देखना मुझे अच्छा नहीं लगता। जो मुझे अच्छा नहीं लगता, उसे

करने में मेरी तपश्चर्या होगी या मेरी शक्तियों का ह्रास ? प्रूफ देखने के काम से स्वयं 'पत्रिका' से मुझे ऊब न आए तो अच्छा !

स्वप्नों का विषय रसप्रद होता है। मुझे मेरे, दूसरों के तथा बालकों के सपनों की जाँच-पड़ताल करने में मजा आता है। बालकों को इच्छातृप्ति के सपने अधिक आते हैं। बबु सपने में गुब्बारे बजाती है, रमा बरफी खाती है, राम जी पुस्तक बाँचते हैं।

सपनों का एक अन्य प्रकार भी है। मैं उसे 'भाव-स्वप्न' कहूँगा। विनोद बहन को बाल मंदिर प्रिय है। उसे वहाँ रहना भाता है, बल्कि घर से भी अधिक प्रिय लगता है। इस कारण से उसे बाल मंदिर का सपना आएगा ही। पर बाल मंदिर के सपनों में वह और भी विशेषताएँ देखती है। वह वहाँ गुलाबजल के उड़ते फब्बारे देखती है, फूलों के सुंदर बगीचे देखती है। कदाचित विनोद बहन अपने घर का सुंदर बाग बाल मंदिर में चाहती है। वह वहाँ पील गार्डन का फब्बारा भी चाहती है। कहानी के गुलाबजल के फब्बारों की भी उसे वहाँ चाह है। एक तरह से देखें तो यह स्वप्न भी इच्छातृप्ति का ही तो है।

छुटपन में मैं पटाखे फोड़ने से डरता था, पर मेरे पड़ौसी पटाखे फोड़ते थे। दूसरों के द्वारा पटाखे फोड़े जाने का मैं आनंद लेता था। फोड़ने वाले भी आनंद लेते थे। मेरा आनंद मालिकी की कल्पना का आनंद था, पटाखे फोड़ने वालों का आनंद फोड़ने की वास्तविकता का आनंद था।

बाजी नामक एक कुत्ता बहुत सुंदर था। बबु को उसे रमाना अच्छा लगता था, पर वह उससे डरती थी। उसे दूसरे लोग रमाकर आनंद लें, वह उसका अपना ही आनंद है, ऐसा मानना पड़ा होगा। बाबी और बाबा उसके भाई बंधु। उसके भाई बंधु तो आनंद ले रहे हैं, इस खयाल से उसे रमाने की तृप्ति होती होगी।

बाजी मर गया। बबु को इच्छातृप्ति का स्वप्न आया। स्वप्न में बाजी जिंदा हो जाता है, बाबी-बाबा उसे रमाते हैं, खुद उन्हें दूर से देखती है, उसे उतना ही आनंद आया, मानो वह जीवित हो। कदाचित बाबा-बाबी के कुत्ते की मृत्यु से उसे जो दुख हुआ, उसके निवारण के लिए ही उसने स्वप्न में कुत्ते को जिन्दा किया हो !

हमें जिसका डर लगता है उसका भी आनंद लेने की रीति हम निकाल सकते हैं।

पर अंजना ने जब अपने काका को मरा हुआ देखा तो क्या उसमें भी इच्छा तृप्ति थी ? क्या अंजना चाहती थी कि उसका काका मर जाए ? अगर अंजना से पूछा जाए तो वह इन्कार ही करेगी। पूछने पर वह रो देगी। लेकिन अंजना को उसका काका खेलने नहीं देता था; बार-बार उसके काम में बाधा डालता था। अंजना ने इतना तो जरूर चाहा होगा कि उसका काका गाँव चला जाए तो अच्छा रहे, काका मौजूद न रहे तो मजे से खेले। स्वप्न में बालक-बालिका का अन्तर्मन काका को मजे से 'बड़े गाँव' भेज सकता है। काका रास्ते से हट जाए, इस इच्छा की स्वप्न में तृप्ति होती है।

यों तो बालकों के स्वप्नों की बहुत सारी बातें हैं।

❑

कई बार मुझे खयाल आता है कि जब कभी कोई मास्टर मर जाता है तो बालकों को जो छुट्टी मिलती है उससे उन्हें खुशी होती है या शिक्षक के मरने से ?

पर वे छुट्टी ही क्यों चाहते हैं ? क्या यह इच्छा शिक्षक की मृत्यु चाहने के बराबर नहीं है ? बाल मंदिर के बालक छुट्टी नहीं चाहते। ऐसा क्यों ? शायद वे मुझे मरते देखना न चाहते हों ? तब तो मैं बहुत जीऊँगा। लंबी अवधि तक जीने की कैसी सुंदर रीति है ! बालकों को स्वतंत्रता दो, उन्हें प्यार दो, शिक्षक के हाथ में दीर्घायु होने की कुंजी आ गई ! मनोविनोद की बात है, पर मेरी ऐसी मान्यता भी है। मैं 72 वर्ष की उम्र तक यों का यों बाल-स्वभाव के साथ जीने की आशा रखता हूँ। मुझे सिर्फ इतना ही ध्यान देना है कि मेरे बालक कभी शाला में छुट्टी हो, ऐसी कामना न करें। आज तो वे छुट्टी के नाम से मुझ पर चिढ़ते हैं। कई बार ऐसा भी कहते हैं कि मैं पागल हूँ, अथवा स्वप्न में वे ऐसा भी देखते हैं कि मैं पगला गया हूँ, क्योंकि मैं पूरे समय उनके लिए शाला खुली नहीं रखता।

❑

छोटे-बड़े बच्चों को लेकर मैं बोर तालाब गया था। बाल-मंदिर की यह वर्षों से चली आई परंपरा थी कि महीने में एक बार हम अपना खाना साथ लेकर

प्रवास पर जाया करते थे, कुदरत के आँगन में विचरण करते थे। जहाँ जाते वहाँ खूब घूमते, फिरते, पेड़ों पर चढ़ते, फिर साथ बैठकर खाना खाते। कहानियाँ होतीं, कभी रास जमता, तो कभी लोकगीत गूँजते। दिन भर बिताकर शाम को घर लौटते। अगले दिन हम और बालक तरोताजा होकर फिर से अपने काम लग जाते।

मैं बड़े बालकों की टोली लेकर उनके संग निकला था। तलाब छलाछल भरा था। हवा तेज थी, पानी उछल-उछल कर जोरों से किनारे पर टकरा रहा था। बड़ी देर तक बालकों ने यह दृश्य देखा। हम झूलते पुल पर आए। झूलता पुल अर्थात् एक तरह की दावत। पर उस दिन हवा बहुत तेज थी, पुल असाधारण रूप से ऊपर-नीचे झूलने लगा था। मुझे लगा कि आज इन बच्चों को ऊपर से लेकर चलने में जोखिम है।

बच्चे जोखिम को लेकर विचार थोड़े ही करते हैं? उनमें अनुभव की समझदारी नहीं होती। डर बचपन का छूत है, इसी प्रकार अनुभव के फल लगते हैं। जब तक नन्हा बच्चा अपनी उंगली जला नहीं लेता तब तक चिमनी के साथ खेलना नहीं छोड़ता। एक बार जल जाने पर तो वह बहुत देर तक उससे दूर-दूर रहता है। यही स्थिति अन्य प्रकार के अज्ञान की है। धीरे-धीरे बालक को चिमनी संबंधी सच्चा भय समझ में आने लगता है। फिर तो वह समझ जाता है कि भय कहाँ है। इसी समझ में अनुभव की समझदारी निहित है। युवकों में यह समझदारी ही नहीं होती। बूढ़े-बुजुर्ग लोग जिंदगी को अधिक प्यार करते हैं अतः उनमें भय-जनित समझदारी ज्यादा आ जाती है। संतुलित रूप से भय की समझ विजयी सैनिक अधिकारियों में देखने को मिलती है; खिलाड़ी भी संतुलित-समझ वाले होते हैं।

मैंने पुल की हालत देखी और निश्चय कर लिया कि बच्चों को जाने का हुकम नहीं देना है।

नरहरि मुझे कहने लगा : 'गिजुभाई! पुल पर जाने दो न!'

मैं बोला : 'नहीं, आज नहीं। आज पुल पर जाना जोखिम भरा है।'

बचु ने कहा : 'बस, हमें तो पुल पर जाना है, भले ही वह उछलता हो।'

मैंने कहा : तुम लोगों को क्या मालूम? इसमें बहुत जोखिम है।'

नरहरि और बचु दोनों बोले : 'हम तो जाएँगे।'

मैं बोला : 'ऐसा है तो तुमको मेरे साथ आना ही न था। आने के बाद तो मेरा ही हुकम चलेगा।'

नरहरि और बचु दोनों पुल पर जाने के लिए ऊँचे-नीचे होने लगे। कभी मेरी तरफ देखते, कभी पुल की तरफ। पर मेरी आदेशात्मक नजरें देखकर पीछे हट जाते।

नरहरि बोला : 'गिजुभाई! आप ही हो आइये न! आप भी जाएँगे तो चलते-चलते ऐसे लुढ़क कर गिरेंगे कि चोकड़ी भूल जाएँगे। चश्मा गिर पड़ेगा, और....'

नरहरि भीतर से खीझ उठा। मुझे लगा कि वह मुझसे बैर ले रहा है। मैंने उसे पुल पर नहीं जाने दिया, इसलिए वे चाहते हैं कि मैं चोकड़ी भूल जाऊँ। मैं उन्हें अच्छा नहीं लगा। उनकी नजर से मेरा फैसला सही नहीं था।

पर बचु तो मेरा बेटा था। शायद उसे भी मैं अच्छा नहीं लगा होऊँगा, लेकिन पिता के खिलाफ बोले तो कैसे? क्या उसका मन अधिक रूढ़िगत नैतिकता (conventionally moral) वाला होगा?

झिकझिक चल रही थी कि तभी सड़क साफ करने वाली मजदूर लड़कियाँ आईं और दौड़ती हुई पुल पर चढ़ गईं। बीच में जाकर उन्होंने पुल को जोरों से हिलाया और लौट आईं।

नरहरि और बचु ने मेरी तरफ देखा। मेरी आँखों में 'हाँ' देखते ही वे पुल पर चढ़ गए।

बाद में नरहरि ने कहा : 'गिजुभाई! आप तो खुद डरे हुए थे इसीलिए पुल को जोखिम भरा बता रहे थे। जब उन लड़कियों ने आपका डर भगाया तब आपने हमें जाने दिया।'

नरहरि ने जबर्दस्त प्रहार किया था। वह ठीक भी था। मुझे इस बात की खुशी हुई कि लड़कियों से मुझे पुल पर चढ़ने की हिम्मत मिली थी।

❑

कल मेरे यहाँ मंडली इकट्ठी हुई थी। दामु बंबई से आया था इसलिए गोपाल राव उससे मिलने आए थे। हमने कई-कई विषयों पर बातें की। चलते-चलते बात इस पर आई कि आजकल हम लोग थोड़े हैं और काम ज्यादा है। बात आगे बढ़ी तो शिक्षक के आराम का सवाल आया। प्रस्ताव सामने आया कि सप्ताह के अंतिम दिन शिक्षकों को गाड़ी में बिठाकर पाँच-दस मील की दूरी पर गाँवों में प्रकृति के बीच, सम्पूर्ण शांति और आराम के बीच ले जाना चाहिए; और जब अगले दिन शाला खुले, तब नौ बजे वे वापिस आ जाएँ। सभी को यह सुझाव पसंद आया। पर काम का क्या हो ?

मैंने कहा : 'सच पूछें तो हमारी काम करने की शैली ही बेढ़ंगी है। जिस प्रकार से विदेशी लोग अमुक समय तक पूरे मनोयोग से कड़ी मेहनत करते हैं और फिर काम छोड़कर आराम करते हैं, वैसा ही कुछ हमें करना सीखना चाहिए। दिनभर काम में लगे रहते हैं, रात को भी काम का ढेर चारों ओर लगाकर सोते हैं; और सवेरे भी काम की चिंता में अनिद्रा या अर्द्धनिद्रा हासिल करके गारे की तरह उठना—यह सब उम्र को छोटा करने का ही उपक्रम है। पर क्या हम कार्य-क्षमता (efficiency) का भी विचार करने को थे ? इस बिन्दु पर मिल-मालिक सोच सकता है, क्योंकि उसके सामने स्थूल हानि-लाभ के आँकड़े तैयार रहते हैं। पर अध्यापन का काम शिक्षक की व्यवस्था-विहीन पद्धति से बिगड़ता है और शिक्षक के मर जाने पर नुकसान होता है, क्या यह सोच आज के अर्थशास्त्र में है ? अगर काम बिगड़ता है तो दिवाला किसे निकालना है ? और अगर काम सुधारने के लिए शिक्षक मरता है तो किसे रोना है ?

अगर अपने जीवन और अपने वांछित योगदान के अर्थशास्त्र पर विचार करने के लिए शिक्षक फुरसत नहीं निकालेंगे या ना समझी बरतेंगे तो और कौन सोचेगा ?

अगर हम यह मानते हैं कि बालक हमारी भावी पीढ़ी है और शिक्षा उसकी खरी सम्पत्ति है तो शिक्षकों की महत्ता सोचनी पड़ेगी और शिक्षक भी कितने सस्ते हैं! अफ्रीका में खेतों की बाड़ बनाने के लिए लकड़ी के डंडों की जगह हाथीदाँत को काम में लाया जाता था। कारण यह था कि जंगल में रहने वाले आदिवासियों को हाथीदाँत की कीमत ही पता नहीं थी।

मुझे यह विचार कत्तई नहीं रुचता कि 'शिक्षक को अपना सम्पूर्ण समय शिक्षण को समर्पित कर देना चाहिए।' हाँ, शिक्षक अपनी अधिक से अधिक शक्ति शिक्षण के निमित्त उपयोग में ला सके, ऐसी अनुकूलता प्रदान की जानी चाहिए। जिस व्यक्ति को पढ़ाने का चसका लग गया है, भले ही वह चौबीस में से पच्चीस घंटे शिक्षण के पीछे पड़ा रहे। उसके लिए तो उसी में जीवन है, सच्चा आनंद है, वही उसके लिए मोक्ष का द्वार है। ऐसे अध्यापकों की संख्या बढ़े, ऐसी कामना की जानी चाहिए। परंतु साधारणतया मनुष्य से उसके मानव-जीवन के सभी द्वार खुले रखकर, उसके लिए उसे पर्याप्त समय देकर ही शिक्षक-व्यवसाय का आदर्श स्थापित किया जाए।

❑

जीवन का उद्धार करने वाली कोई एकमात्र चीज है तो वह सत्य ही है; इसीलिए सत्य का विवेक अधिक बारीकी से करना पड़ता है। सत्य-असत्य के सूक्ष्म स्वरूप को समझा जाना चाहिए। कहीं हम असत्य को ही सत्य न मान बैठें, इसके लिए सावधान और चौकन्ना रहना पड़ेगा। सत्य को भी असत्य समझ लेने की भूल नहीं होनी चाहिए। मन, वाणी और कर्म की एकता ही सत्य का शुद्ध स्वरूप है। अकेला वाणी का सत्य सत्य नहीं भी होता, कर्म के सत्य के साथ बहुधा वाणी और मन नहीं भी हों, मन का सत्य वाणी में नहीं भी उतरे; और मन तथा वाणी के सत्य के अनुसार क्रिया न भी चले। हमें अपने आप को बहुत टटोलने की जरूरत पड़ती है। मन जैसा हो, वैसा जानने में हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। दुनिया की खातिर मन की विरोधी क्रिया करने में असत्य ही है।

❑

मेरे एक मित्र के नाम किसी जान-पहचान वाले व्यक्ति का पत्र आया। परिचित व्यक्ति ने लिखा था : 'हमें एक शैक्षिक महत्त्व के सवाल पर विचार करना है। मैं आपको मेरे विचार बताऊँगा क्या आप मिलने आएँगे ?'

मेरे मित्र ने लिखा : 'आज नहीं, कल जरूर आऊँगा। आज थोड़ा काम है।'

अगले दिन मित्र गया नहीं। बोला : 'बरसात आ रही है। आज कौन जाए ?'

तीसरे दिन उसे लगा कि उसे बहुत काम है, इस कारण वह गया नहीं। शाम को उसे बच्चों को घुमाने ले जाने का खयाल आया और अपने परिचित मित्र के यहाँ जाना स्थगित कर दिया। पर शाम को कुछ प्रतिकूल संजोग दिखाई दिए अतः घूमने जाना भी छोड़ दिया। शाम सुहानी थी; वर्षा नहीं थी, बालकों को घुमाना स्थगित हो गया था और फिर भी उसे अपने परिचित मित्र से मिलने की फुर्सत नजर नहीं आ रही थी।

मुझे इस बात का संदेह पैदा हुआ कि मेरा मित्र उससे मिलना ही नहीं चाहता। सचाई यही है कि मेरा मित्र अपने परिचित मित्र की बातों में कोई तात्विक बात महसूस नहीं करता। शिक्षा संबंधी बात के पीछे वह उसका स्वार्थ देखता है। उसे अपना परिचित मित्र अच्छा नहीं लगता। पर वह इस बात को अपने भीतर स्वीकार न करता हो, कहीं इस वजह से तो ऐसे बहाने नहीं बना रहा था ? शायद। लेकिन ऐसे बहाने बनाना गंभीर असत्य है। हर बार बाहर जाने की परिस्थिति प्रत्यक्षतया प्रतिकूल ठहरती है, पर क्या सचमुच प्रतिकूलता एक बहाना थी अथवा वास्तव में कोई मुश्किल थी ?

मेरे इस मित्र से एक अन्य मित्र ने पूछा था : 'अगर तुम्हारे अमुक मित्र ने तुम्हें पत्र लिखा होता तो क्या तुम मूसलाधार वर्षा के बावजूद उससे मिलने नहीं जाते ?'

मेरा मित्र बोला : 'अवश्य जाता।' यह उत्तर ही बता रहा है कि मुश्किलों का तो बहाना मात्र था, मुख्य बात तो अरुचि ही थी। पर ऐसी टालमटोल नीति मनुष्य स्वभाव में कैसे आई होगी ? मेरी धारणा है कि मेरा मित्र न्यूनातिन्यून आत्म-परीक्षक है, इसी कारण वह इतना असत्यभाषी है। अगर उसने साफ-साफ लिख दिया होता कि मैं तुमसे नहीं मिल सकूँगा, क्योंकि मैं तुम्हें पसंद नहीं करता, तो उसका सत्य उत्तम कोटि का होता। अगर उसने यों लिखा होता कि अनुकूलता होगी तो मिलने आऊँगा, और फिर मन में यह निश्चय किया होता कि मुझे मिलने नहीं जाना, तो भले ही बाहर से वह झूठा माना जाता लेकिन अंदर से तो सत्यनिष्ठ ही रहा होता ! लेकिन जब मनुष्य स्वयं अपने को ही गलत समझता है तो वह असत्यवादी से भी भयंकर हो जाता है। सत्य उत्तम है; लेकिन जानबूझ कर बोला गया असत्य आत्म-वंचना से उत्पन्न हुए भासमान सत्य से ज्यादा अच्छा है।

❑

मुझे अफ्रीका का एक प्रसंग याद आ रहा है। मेरे सेठ के आफिस में दो कसाई आया करते थे। एक अरबी था, दूसरा यूरोपियन। एक दिन मैंने अरबी से पूछा : 'भले आदमी ! तुम अच्छे कुल में पैदा होकर भी कसाई का धंधा क्यों कर रहे हो ? इन प्राणियों की हत्या करते हुए तुमको दया नहीं आती ? क्या खुदा तुम्हें इस पाप का बदला नहीं देगा ? तुम तो सीधे नरक में जाओगे !'

अरबी ने हाथों से दोनों कान पकड़े और आँखों में आँसू भरकर बोला : 'या अल्लाह ! मैं बहुत बड़ा पापी हूँ। मैं नहीं जानता कि मेरी क्या गत होगी ?'

यही बात जब उस यूरोपियन से पूछी तो वह बोला : 'मैं खुदा को नहीं मानता। अपने धंधे के बतौर मैं यह काम करता हूँ तो इसमें पाप कैसा ? अगर सब लोग इसे पाप कहते हैं तो वे भी इसी धरती के ही तो निवासी हैं; हमें मंगल ग्रह के निवासियों से पूछना चाहिए कि इस बारे में उनकी क्या धारणा है।' वह जोश के साथ बोला कि हम जो करते हैं उचित ही करते हैं। उसने आत्मविश्वास से कहा था। उसके मन में दुविधा कहीं नहीं थी।

मैं सोचता हूँ अरबी हिंसा करता है, वह यूरोपियन भी करता है; पर अरबी को हिंसा का पाप लगेगा, जबकि यूरोपियन पाप से छूट जाएगा।

❑

थोड़े अर्से पहले मस्तरामभाई के घर पर एक भजन-गायक का कार्यक्रम था। एक भक्त बड़े मधुर भजन गाता था, पूरा भाव-विभोर और तन्मय होकर। मस्तरामभाई ने उससे मेरी जान-पहचान कराते हुए कहा : 'यह इस गाँव का कसाई है फिर भी भक्त है।' मुझे आश्चर्य हुआ। मस्तभाई ने कहा : 'व्यसन मात्र से यह व्यक्ति मुक्त है। झूठ बोलना हराम है। हर गुरुवार इसके यहाँ गाँव भर के भजनीक इकट्ठे होते हैं।'

मैंने देखा कि वह कसाई नहीं था। उसने उसमें पाप समझा ही नहीं था। उसके सभी लक्षण पुण्यवानों जैसे थे। पैसे लेकर भेड़ों का गला काटने वाला व्यक्ति अगर सत्य के लिए अपना गला कटाने को तैयार रहे तो सचमुच उसे संत ही मानना चाहिए।

रेल में मुझे एक वाघरी (मैली-कुचैली रहने वाली एक जाति का आदमी) मिला। मैंने उससे कहा : 'तुम मांस खाते हो, सो अच्छी चीज नहीं है।'

उसने कहा : 'गाँव में बिकता है। हमारा आहार है। यह तो रोजाना की बात है, इसमें मुझे पाप जैसा तो कुछ महसूस नहीं होता।'

मैंने कहा : 'लेकिन प्राणियों को मारना क्या पाप नहीं ?'

उसने जवाब दिया : 'हाँ, पाप तो है, पर क्या वह पाप मैं करने जाता हूँ ?'

मैं बोला : 'पर वे लोग तुम्हारे लिए ही तो करते हैं। उनको जब कोई ग्राहक ही नहीं मिलेगा, तो वे यह धंधा छोड़ ही देंगे।'

वाघरी ने कहा : 'ऐसा तो हो सकता है। पर करें क्या ?'

मुझे लगा कि वाघरी को पाप लगना ही चाहिए।

सत्य-असत्य और पाप-अपाप पर बहुत बारीकी से विचार होना चाहिए।

❑

लीलु और विदु को बुखार आ रहा था। लीलु बड़ी, विदु छोटी। एक बार लीलु ने आकर कहा : 'आज विदु की दवा गिर गई इसलिए उसे मेरी दवा में से पिला दीजिए न! मेरी और उसकी दवा एक जैसी है—कुनैन।'

मेरे मन में लीलु के प्रति सम्मान बढ़ गया। सोचा : 'देखा, बहनों का कैसा आपसी लगाव है ?' मैंने विदु को बुलाया और दवा पीने को कहा। ज्योंही विदु आई, लीलु दवा ले आई। लीलु बोली : 'शीशी से सीधे ही दवा पिला दीजिए न!' मैंने विदु के गले में दवा उंडेल दी। विदु मुँह बिगाड़ती-बिगाड़ती दवा निगल गई।

तब मैंने लीलु से कहा : 'चलो, अब यह बाकी की दवा तुम पी लो।' लीलु हँस दी। बोली : 'ओफो! एक टंक की दवा आपने विदु को पिलाकर कम

कर दी, अब यह दूसरे टंक की दवा किसी को नहीं पिलाई जा सकती।' मैंने अचरज के साथ पूछा : 'क्यों भई ? क्यों नहीं पिलाई जा सकती ?' लीलु बोली : 'यह दवा विदु के गले में उंडेली थी, इस कारण जूठी हो गई। जूठी दवा नहीं पिलाई जा सकती।'

लीलु के शब्द सुनकर मैं आश्चर्यचकित रह गया! यह नौ वर्ष की बालिका क्या कह रही है ? मैंने कहा : 'लेकिन तब भी दवा तो पीनी ही चाहिए न ?' लीलु बोली : 'मुझे पीनी नहीं थी, तभी तो विदु को पिलाई और जूठी होने दी।'

मैं तो ठिठक ही गया। ओ हो! जरा-सी लड़की ने दवा न पीने के लिए कैसा दिमाग लड़ाया ? हमने तो समझा था कि बहन के प्रति इसकी कैसी भावना है! कितनी दिमागदार है! लीलु के प्रति मेरी भावना घटी भी नहीं और बढ़ी भी नहीं। लेकिन बालकों की मनोवृत्ति संबंधी जानकारी में एक नई किरण प्रकाशित हुई। कैसे अजीब हैं ये बालक, और इनकी सूक्ष्म बुद्धि!

मैं विचार में खोया हुआ था। अगली सुबह हुई। लीलु ने मेरे पास आकर कहा : 'आज सोमवार है, मैं उपवास करूँगी।' मैंने उसकी तरफ देखकर पूछा : 'हो सकेगा ?' वह बोली : 'हाँ, मैं करूँगी।' तब मैंने कहा : 'अच्छी बात है, करो।' फौरन वह बोल उठी : 'आज दवा नहीं पी जाएगी।' मैंने कहा : 'क्यों ?' फौरन जवाब दिया : 'आज उपवास है न, इसलिए दवा नहीं पी जाएगी।'

'लेकिन ऐसा कहा किसने ?' मैंने पूछा।

'मैं कहती हूँ, नहीं पी जाएगी। उपवास करने पर नहीं पी जाएगी।' लीलु ने कहा और हँस दी। मुझसे दूर जाते-जाते मुझे सुनाती हुई यों बोली : 'ओफो! आज भी दवा पीने से छुट्टी मिली! मुँह कड़ुआ तो नहीं करना पड़ेगा।'

मुझे बहुत ताज्जुब हुआ। क्या युक्ति थी लीलु की ? उसकी प्रशंसा की जाए या निंदा ? मुझे उसकी युक्ति में रुचि जागृत हुई। देखें तो सही कि कितने-कितने बहाने बनाकर वह दवा नहीं पीती ?

शाम को जाते समय वह कहने लगी : 'रोजाना उपवास किया जाए तो दवा नहीं पीनी पड़ती।'

मैं बोला : 'यह कैसे हो सकता है ?' दवा तो पीनी ही चाहिए! प्रत्युत्तर में वह बोली : 'तो फिर आज क्यों नहीं पी ?' मैं बोला : 'हाँ, क्यों नहीं पी ?' लीलु बोली : 'आपने ही तो कहा था कि सोमवार को न पीना!'

मैंने देखा कि लीलु ने किस विचित्र रीति से पूरी बात ही उलट दी थी। मैं उसकी मानसिकता जानने के लिए उसके मनःप्रदेश में गहरे उतरा। मुझे लगा कि एकमात्र दवा न पीने के लिए लीलु इतना दिमाग लगाती है। मैं उसे दवा पिलाने में जोर-जबरदस्ती नहीं करता, इस बात को वह भी जानती है कि दवा तो पीनी ही चाहिए, उसके बिना बुखार नहीं मिटेगा। फिर भी उसे दवा पीना अच्छा नहीं लगता, दवा नहीं भाती। इसी से वह तरह-तरह के उपाय ढूँढ़ती है।

मुझे लगा कि भले ही बालकों को बुद्धि से वस्तु का लाभअलाभ समझा दें, पर उनकी वृत्ति तो जैसी होती है वैसी ही रहती है। दिमागी समझदारी पसंद-नापसंद पर नियंत्रण रखती है, ऐसा नजर आता है; अर्थात् मनुष्य बुद्धि की स्वीकृति के अनुसार चलता है। तर्क करने से दोष आते हों, ऐसे क्षेत्रों को वह व्यवहार में से छोड़ देता है और जरा तिरछे मार्ग पर चल कर पुनः उसी रास्ते पर लौट आने की कोशिश करता है। मन की गहराई को अपने सिवा कोई दूसरा छू नहीं सकता। स्वयं भी बहिर्मुख बनकर उसे नहीं छू सकता। जब वह बहिर्मुख बनता है तब उस पर एक तरह का आवरण ढँक देता है; लेकिन जब भीतर की ओर वापिस मुड़ता है तो ठीक वही मनुष्य दिखाई देने लगता है।

बालक हमारी दलील को सुनकर सहमति जताता है, वह दवा पीने से इन्कार नहीं करता, बल्कि वह दवा पीने को लेकर अपना उत्साह प्रकट करता है, लेकिन बाद में तरह-तरह के बहाने बनाकर दवा पीने से भाग जाता है। अगर हम विनोद-प्रिय हैं तो विनोद द्वारा भागता है, अगर हम भावना-प्रधान हैं तो भावना द्वारा भागता है; और अगर हम वहमों-अंधविश्वासों में आस्था रखते हैं तो इनके माध्यम से भागता है। चाहे बालक हों या बड़े, जब अपनी मनोवृत्ति के अनुकूल उन्हें कुछ करना होता है तो वे करते ही हैं, फकत वे दुनिया को उचित कैसे लगेगा और कैसे चला जा सकेगा, इसका मार्ग ढूँढ़ निकालते हैं। इसमें बालक की दुष्टता नहीं है, न ही बुद्धि का दुरुपयोग है अपितु मानवीय-बुद्धि की सहजता है।

चिंतन के इतने विशाल क्षेत्र पर लीलु ने मेरी दृष्टि आकृष्ट की।

मैंने कहा : 'लीलु! ये तमाम बातें फकत दवा न पीने को लेकर हैं। हकीकत में तो दवा पीएगी तभी छुटकारा मिलेगा, क्योंकि उसके बिना हम बीमार पड़ जाएँगे।'

लीलु बोली : 'तो दवा पीने से कौन मना करता है ? बीमार पड़ना तो मुझे भी पसंद नहीं।'

लीलु ने इतनी बातें कही जरूर हैं, पर कल को दवा पीने की बात पर कोई न कोई बहाना तैयार रखेगी।

काफी पहले मैंने ए. एस. नील की The Problem Child* पुस्तक पढ़ी थी। मनोवैज्ञानिक के नाते नील के प्रति मेरा मत बहुत ऊँचा है। कहा जाता है कि उसे मन की गहराइयों में उतरने का कुदरती वरदान मिला हुआ है। मेरी मान्यता है कि उसमें सही चीज को उसके असली रूप में (यथातथ्य) देखने की शक्ति है। जिसे हम नग्न सत्य कहते हैं, भले ही वह उसके अपने बारे में हो अथवा दूसरों के बारे में, वह उसे देखने में सक्षम है। वह शर्महीन है। ज्यादातर लोग ऐसे होते हैं कि वे अपने आपको नग्न नहीं देख सकते; उन्हें स्वयं को देखने में शर्म आती है। स्वयं अपने से सम्बद्ध होते हुए भी उन्हें स्वयं को देखने में घृणा, शर्म और संकोच होता है। ऐसे लोग अधिक संख्या में हैं। स्वयं को नग्न न देखने वाला व्यक्ति बाहरी दृष्टि से अपने अंतःकरण को नहीं देख सकता। किसी को इस तरह नहीं देखा जाना चाहिए, ऐसी संस्कारी मान्यता की वजह से वे लोग स्वयं को भी नहीं देख सकते—स्वयं के बारे में भी अज्ञानी बने रहते हैं। यह तो स्थूल की बात हुई। पर ऐसे लोग अपने सूक्ष्म को, मन को, भावनाओं और विकारों आदि को भी नहीं देख सकते; देखने में संकोच करते हैं, शर्माते हैं, भड़कते हैं और भय खाते हैं। इसका कारण यह है कि मनुष्य भीतर-बाहर से कैसा होना चाहिए, दुनिया ने इसका जो एक स्तर निर्धारित कर रखा है, उस स्तर से स्वयं का अवलोकन करते हुए वे घबराते हैं। उस स्तर से वे बहुधा स्वयं को बहुत नीचे देखते हैं। इसीलिए नीचाई को ऊँचाई की ओर ले जाने का विचार

* दक्षिणामूर्ति प्रकाशन मंदिर द्वारा इस पुस्तक का 'मूंझवतुं बालक' शीर्षक से गुजराती भाषांतरण छप चुका है। अनुवादक हैं श्री हरभाई त्रिवेदी।

हाथ में लेने की बजाय वे नीचाई को ही देखना नहीं चाहते। अर्थात् वे अपनी ही तरफ देखकर अपने आपको जानना नहीं चाहते।

नील ऐसे लोगों में से नहीं था। वह प्रत्येक बालक को नग्न देख सकता था। बड़े अमीर का बेटा ऐसा भयंकर कैसे निकल जाता है, इसकी गहराई से पड़ताल करने की बजाय उसके मन में ऐसे विचार कभी नहीं आते कि इस तरह से किसी को उघाड़ कर नहीं देखना चाहिए। वह तो मानकर चलता है कि अमीर का बालक ऐसा हो भी सकता है। अमीर का दर्जा बाहरी है; असली चीज है बालक के अंतःकरण की मनोवृत्तियाँ। 'समस्या बालक' (The Problem Child) का विचार वही आदमी अच्छी तरह से कर सकता है जिसमें बालक को आरपार देखने की हिम्मत हो। इसी भाँति जो आदमी स्वतंत्र नहीं है, जिस तरह वह दूसरों को स्वतंत्रता देने में सक्षम नहीं हो सकता, उसी तरह जो स्वयं को नग्न नहीं देख सकता वह 'समस्या बालक' का केस अपने हाथ में कभी नहीं ले सकता। 'समस्या बालक' को समझने की बहुत लोग कोशिश करते हैं पर असफल रहते हैं, इसका एकमात्र और मुख्य कारण यही लगता है कि उन लोगों में नग्न बालक को देखने की हिम्मत नहीं होती।

मेरे मन में जो विचार आया था और मैं जो कहना चाहता था वह यह है कि 'समस्या बालक' को सुधारने के लिए ही तो नील ने स्कूल खोली थी और उसी में उसे यश नहीं मिला। अपनी 'समस्या बालक' (The Problem Child) पुस्तक के अंतिम प्रकरण में उसने हताशा भरी बातें लिखी हैं। लगता है वह थक गया था, हार गया था। ऐसा होना स्वाभाविक भी था। उसने 'समस्या बालक' का विवेचन-विश्लेषण बड़ी सुंदरता से किया था, पर उनकी मुक्ति का मार्ग निकाल पाने में सफल नहीं रहा। वस्तुतः उसे आशाप्रद और स्पष्ट-निश्चित मार्ग मिला ही नहीं।

सच तो यह है कि नील की स्कूल में जाने से पहले ही वहाँ का प्रत्येक बालक 'समस्या' बन जाता था। नील उनको अपनी स्कूल में सुधारने की मिथ्या कोशिश करता रहा—अगर कोई ऐसी टिप्पणी करे तो गलती कहाँ है? आज के माता-पिता ही समस्यात्मक हैं—'समस्या' हैं। जब माँ-बाप ही समस्या हैं तो उनके बच्चे दुगने 'समस्या' बालक ही होंगे, यही स्वाभाविक है। इसीलिए फकत बाल-शिक्षण से आज की उलझन का समाधान संभव नहीं है, इसका समाधान तो

माता-पिता के शिक्षण में है, माता-पिता और शिक्षक के सहकार में है; माता-पिता की जागृति में है। हमें नील को सलाह देनी चाहिए कि उसे 'समस्या-माँ-बाप' की स्कूल शुरू करनी चाहिए। मुझे लगता है ऐसी स्कूल में बैठने वालों की तलाश में उसे कहीं दूर जाने की जरूरत ही नहीं पड़ेगी।

❑

एक पत्रिका में मैंने पढ़ा था। एक माँ ने कहा : 'बेटी! देख, ऐसे बूट मत पहनना। इनके बजाय तुझे वैसे बूट अच्छे लगते हैं, वैसे ही पहना कर।' बेटी ने जवाब दिया, 'माँ, क्या यह बात भी तुझे तय करनी चाहिए कि मेरे पैरों में मैं कैसे बूट पहनूँ? मुझे जो अच्छे लगेंगे, वही पहनूँगी। तू तुझे अच्छे लगते हैं वैसे बूट कैसे पहनती है?'

पढ़ते ही पहले-पहल तो लगा : 'देखा, इस देश के बालकों की स्वतंत्रता किस हद तक बढ़ गई है! बड़ों के साथ बेटी इस तरह से बोले, यह अच्छी बात नहीं है?' पर मेरा यह विचार स्थायी नहीं था। मेरे सामने ऐसी घटनाएँ रोजाना होती थीं, अतः मुझे लड़की का उत्तर उचित प्रतीत हुआ। क्या हमें अपनी माताएँ अपनी पुत्रियों को अपने ही ढंग से पहनाती, ओढ़ाती, बिठाती, उठाती, बुलवाती, चलाती देखने में नहीं आती? माता-पिता बालकों के लिए अपने व्यक्तित्व को हर हाल में पूर्ण आदर्श स्वरूप मानते हैं, यह एक आश्चर्य है, अद्‌भुत आश्चर्य! फिर भी यह है।

कल ही मैंने एक माँ को अपने पुत्र से यों कहते सुना : 'देख, यों खाना खाया जाता है, यों बैठकर।' मैंने पूछा : 'तुम्हें किस तरह खाना खाना अच्छा लगता है?' माँ बोली : 'जिस तरह मैं इस लड़की को खाना खाने की बात कह रही हूँ, उस तरह।'

मैं समझ गया : 'यह माता अपनी बेटी को अपने जैसी ही गढ़ना चाहती है।' खयाल आया कि लड़की नरम स्वभाव की है अतः वह अपनी माँ जैसी ही बनेगी। पर उपर्युक्त अमेरिकी लड़की नरम नहीं थी। माँ ने उस पर अपनी मुहर अंकित करने का जो प्रयत्न किया था, वह निष्फल गया। उसकी तुलना में वह स्थानीय लड़की स्वभाव से कठिन नहीं थी; वह दबाई हुई थी अतः माँ उसे अपने

जैसी बनाने में लगी थी। सभी माताएँ पुत्रियों को और सभी पिता पुत्रों को अपने जैसा बनाने के लिए संघर्ष करते हैं, तभी तो पुत्र-पुत्री अपने पिता-माता जैसे ही निकलते हैं। माता-पिता स्वयं से तो संतुष्ट होते हैं इसलिए उन्हें अपने जैसे बालकों से ही संतोष मिलता है। उनके समक्ष नए युग के माँ-बाप और नए युग के बालक रखें वे आरसी-स्वरूप सिद्ध होंगे। यह तो ठीक है, पर माँ-बाप अपने इस भयंकर रोग को समझ लें तो? रोग का नाम है स्वमताग्रह अर्थात् Dogmatism अर्थात् जो मैं करता हूँ वह तू कर, मैं सोचता हूँ वैसा तू सोच, मेरी कल्पना ही तेरी कल्पना, मेरी भावना ही तेरी भावना, मेरा धर्म सो तेरा धर्म, 'हूं मय' तू बन जा : इसका नाम है स्वमताग्रह। इसका नाम है ठप्पे की प्रतिकृति निकालना अर्थात् आदमी की 'ममी' तैयार करना।

जब आदमी स्वमताग्रही बनना चाहने लगे तो समझ लेना चाहिए कि उसकी प्रगति अवरुद्ध हो चुकी है। अर्थात् वह अपने व्यक्तित्व जैसा ही दूसरा व्यक्तित्व गढ़ना चाहता है। हम आगे नहीं बढ़ पा रहे हैं इसका कारण है हमारे कई-कई पुराने दादा-परदादाओं से चला आने वाला स्वमताग्रह। दादा जैसे स्वमताग्रही लोग अब भी परंपरा का गुणगान कर रहे हैं, अब भी वे परंपरा को सम्मान देते हुए चलने की शिक्षा दे रहे हैं; परंपरा में अब भी उन्हें महत्त्व नजर आता है। अब तक चले आने वाले स्वमताग्रह की सफलता बड़ी अजीब है। इस रोग में यह देखने में आता है कि जिस व्यक्ति पर स्वमताग्रह लादा जाता है वह बेचारा कीट-भ्रमर न्याय के मुताबिक स्वमताग्रही ही बन कर निकलता है। वह स्वमताग्रहियों में दिव्यता और भव्यता का अवलोकन करता है, वह दूसरों पर अपना मत व आग्रह थोपना अपना पवित्र एवं धार्मिक काम मानता है। आज हम अपनी मानसिक स्थिति का विश्लेषण करें तो हमें यही तत्त्व दिखाई देगा।

❑

हम लोग समुद्र-तट पर हवाखोरी के लिए नहीं गए थे, अपितु वहाँ रहते हुए चारों ओर के इलाकों में हम अक्षर-ज्ञान योजना फैला रहे थे। अंत्यजों के लिए भी तो हमारी शिक्षण की योजना थी ताकि सभी निरक्षरों का फायदा हो सके। मैं एक बड़ के नीचे श्री दक्षिणामूर्ति स्तोत्र में से एक पवित्र श्लोक बोलकर अंत्यज बालकों को पढ़ाने बैठा।

जिस तरह वर्षों की प्यासी धरती वर्षा आते ही पानी को सोख लेती है उसी तरह ये बालक भी मेरे पाठ को ग्रहण कर रहे थे। इससे भी बढ़ कर जिस तरह अधिक भूखा-प्यासा आदमी खाना-पानी मिलते ही एकदम से खाने-पीने लगता है तो कई बार खाना या पानी उसकी श्वास-नली में चला जाता है उसी तरह ये ज्ञानपिपासु और क्षुधार्त बालक जल्दी-जल्दी पाठों को ग्रहण करने लगे। मुझे बहुत खुशी हुई। मेरे मन में विचार आया : 'जिन बालकों को पढ़ना नहीं है, उन्हें विद्यालय जाना पड़ता है और जबरन ग्रास निगलने पड़ते हैं; उनको अजीर्ण हो जाता है और वे बीमार पड़ जाते हैं।' अर्थात् जबरन पढ़ने जाने के बजाय बालक कई तरह के ढोंग करते हैं कि सिरदर्द है या पेट दर्द है जबकि जिन बालकों को पढ़ने की भूख है उन्हें कोई नहीं पढ़ाता। परंपरा के दास लोग इनकी पढ़ाई को पाप समझते हैं, भ्रष्टता समझते हैं। अपने से किसी को आगे न बढ़ने देने की इच्छावाले द्वेषी लोगों द्वारा तय किए गए कड़े कानूनों के ये बेचारे लोग बिना किसी अपराध के शिकार बन जाते हैं।

जब मैं उन्हें पढ़ाता था तो लोग चारों ओर देखने के लिए आ जाते थे। कहते थे : 'भाई! ब्राह्मण होकर इन ढेढ़ों को पढ़ाते हो? उनके पास जाने से आप भ्रष्ट नहीं हो जाते हो?'

मैं बोला : 'यह काम ब्राह्मण का ही तो है। अगर मैं गुरु हूँ तो शिष्यों के पास जाने से मैं भ्रष्ट नहीं हो जाऊँगा। गुरु कभी भ्रष्ट नहीं होगा।'

लोग उत्तर नहीं दे पाते थे और समाधान भी नहीं निकलता था; क्योंकि मैं नया ब्राह्मण था और मेरा शास्त्र नया था। परंपरा को तोड़ने वाले का लोगों पर प्रभाव पड़ता है, क्योंकि वे तोड़ने वाले की हिम्मत देखकर मन ही मन उसकी प्रशंसा करते हैं। पर वे उसे स्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि स्वयं उनमें साहस का अंश नहीं होता।

हमारे बगल में शंकर का मंदिर था। वहाँ के पुजारी इत्यादि मेरे इस काम की खूब चर्चा करते थे तथा विरोध भी करते थे। मेरे रसोइये को वे मंदिर में न आने की बात कहते थे और घबराहट के मारे रसोइया वहाँ जाता नहीं था। पर मैं मेरी इच्छा के मुताबिक जब चाहता, मंदिर में चला जाता था। रसोइया परंपरा का भक्त था अतः परंपरा के पुजारियों का खौफ मानता था, लेकिन मैंने तो उसको त्याग दिया था अतः परंपरा की निर्बलता मुझ में नहीं थी, बल्कि उल्टा

मैं बलवान बना था। मंदिर के लोग भी मेरे विरुद्ध कुछ नहीं करते थे, फकत भावपूर्वक देखते थे, क्योंकि जिन बेड़ियों में वे कैद थे, मैं उनसे मुक्त था। थोड़े समय के बाद ढेढ आने बंद हो गए। मेरा अनुमान था कि लोगों ने उनको आने से रोका होगा। परंपरा के पुजारियों का मुझ पर तो कोई जोर चल नहीं सकता था, पर वे लोग निर्बलों पर तो अपनी कमजोरी लाद ही सकते थे। उन्होंने ढेढों से कह दिया : 'देख लेना रे, पढने गए तो पिटाई किए बिना नहीं छोड़ेंगे और गाँव से निकलवा देंगे सो अलग।' और युग-युगों से दासता भोगने वाले बेचारे ढेढ़ उनसे कितना मुकाबला कर सकते थे ?

मुझे लगा कि मैं ढेढ़ों का गुरु बन कर बैठ जाऊँ, इसमें क्या हासिल होने वाला है। अगर मैं परंपरा का उच्छेदन करके सबों को इससे मुक्त करा सकूँ तो समय रहते बेचारे बच सकेंगे। कुछ समय पहले मेरे पास उन लोगों के दो बालक पढ़ने आए थे। मैं उन्हें गायत्री मंत्र और अष्टाध्यायी रुद्री का पाठ सिखाने लगा। मुझे लगा कि मेरा यह कदम परंपरा तोड़ने का कोई गंभीर और सच्चा मार्ग नहीं था, फकत एक तरह की उद्धतता है। परंपरागत आचारों के सामने उकसाने की बात भी है। किले को हिलाने जैसा काम है। पर अचरज की बात यह थी कि ढेढ़ों को वह सब सीखना नहीं रुचा। वे बोले : 'अंग्रेजी सिखाएँ।' बेचारे ढेढ़ !

इस तरफ तो ये परंपरा की पकड़ में हमारे साथ आगे बढ़ना नहीं चाहते, उस तरफ से परंपरा के प्रदेश से बाहर वाले लोगों के मोह में नए ही मार्ग पर बल्कि कहें उल्टे मार्ग पर जाना चाहते हैं। दूसरा कोई विषय नहीं मिला तो वे अंग्रेजी सीखने चल पड़े ! जातीय भोज में जिस तरह शेष बचे भोजन पर ढेढ-वाघरी टूट पड़ते हैं वैसे ही आज जब अंग्रेजी पढ़ने का मोह छोड़ने का अवसर आया है तब ये लोग उसके पीछे हाथ धोकर पड़े हैं। पर इसके लिए इन लोगों को उलाहना देने की जरूरत नहीं है। हमारी पंक्ति में ये लोग अंतिम सिरे पर है; हमारे पीछे-पीछे घिसटते चले आ रहे हैं। हम भी इस मोह में पड़े थे और आगे बढ़े थे; इन्हें भी जब यह अनुभव होगा तब पता चलेगा। मैं उनको अंग्रेजी तो कैसे पढ़ाता ? मैं तो उनके विहीन हो गया।

एक बात कहनी होगी कि उनके मुँह पर वेद की वाणी अच्छी लगती थी, शोभा देती थी। भगवान ने जिन-जिन को उत्पन्न किया है, उन सभी के कंठ में वेदवाणी गूँज सकती है। ढेढ़ के कंठ से भला निकल कर गिर थोड़े ही रही थी।

मेरे मन में भगवान का न्याय और मनुष्य के अन्याय के विचार बहुत स्पष्टता के साथ प्रकट हो रहे थे।

मैं कभी-कभार विचित्र बन जाता हूँ। मैंने उन ढेढ़ों को सिखाने के लिए पवित्र ब्राह्मण को नियुक्त किया, जो छू जाने पर नहाता था। वह मेरे अध्यापन-मंदिर का विद्यार्थी था। तत्व से उसने इन्कार नहीं किया। वह बोला : 'सीखना अवश्य, पर दूर से।' मैं बोला : 'अच्छा।' अब विशेषता देखिए ! वेद छूतछात नहीं जानता अपितु आदमी छुआछूत रखता है, इस विचार तक तो उस ब्राह्मण ने पहुँचा दिया। मुझे भरोसा है कि कुछ अर्से में वे स्वयं भी छूतछात नहीं मानेंगे। पर आश्चर्य की बात तो यह है कि वेद छूतछात नहीं करता, आदमी करता है। मैं स्वयं मनुष्य हूँ अतः छुआछूत से इन्कार करता हूँ। जब तक मनुष्यत्व है तब तक कोई किसी से छुआछूत न करें। छुआछूत से मनुष्यत्व घटता होगा इसीलिए कदाचित उसे छुआछूत अड़ती हो तो ? तो क्या छुआछूत से दूर भागे या मनुष्यत्व को विकसित करे ? बेचारे गरीबों से दूर रहना, उन्हें दुत्कारना, उन्हें पढ़ाना नहीं, क्या इससे मनुष्यत्व नहीं घटता ? और अगर वे अनेक बार छू जाएँ तो इसमें किसका दोष ? पर डरने की बात तो यही है कि लंबे समय तक मनुष्यता का मोल घटता जाएगा और उसके बजाय छुआछूत बढ़ जाएगी तो बेचारा मनुष्य मनुष्य नहीं रहेगा अपितु ढेढ़-भंगी हो जाएगा ! महात्मा गाँधी ऐसा ही कुछ कहते थे कि हमारे ही पाप से आज हम अंत्यज बन गए हैं। मुझे लगता है कि आज के ब्राह्मण का अंत्यज बनना जितना आसान है उतना अंत्यज का ब्राह्मण बनना कठिन नहीं है।

❑

अंत्यज की बात से मुझे बड़ के नीचे बैठ कर पढ़ने वाला वह बालक याद आ गया। उसकी आँखें इतनी अधिक भावपूर्ण—प्रेमपूर्ण थी कि शायद ही आज के किसी शिक्षक ने अपने शिष्य में देखी होगी। बालक के हृदय में उत्कृष्ट प्रेम था। मेरे प्रति तो वह विशेष रूप से भावयुक्त था। ज्ञान की प्यास बुझाने वाले की तरफ वह मान, ममता तथा आभार के साथ देखता था। वह मुझे कहता था : 'आप मुझे अच्छी तरह से सिखाइए, मैं भी अच्छी तरह से सीखूंगा। दूसरा लड़का न आए तो कोई बात नहीं। वह पढ़ना न चाहे तो कोई बात

नहीं। मुझे पढ़ाइए। मैं सीखूँगा-पढ़ूँगा। मैं आपसे ही पढ़ूँगा, किसी और से नहीं।' इसका नाम है अभिमुखता। ऐसे बच्चों को पढ़ाने में गुरु की गरिमा बढ़ती है। हमें तो सबको पढ़ाना है, बंजर धरती में हल जोतना है! हमें विद्यार्थियों की तरफ नहीं अपितु पाठ्यक्रम की तरफ देखना होता है, ऐसे में भला ऐसी प्रेमयुक्त आँखें देखने को कैसे मिले? पर गुरुभावी अंतःकरण की समझ के लिए यह बालक एक महान अध्ययन है। वह कह रहा था कि तुम से ही पढ़ूँगा। दूसरों को न पढ़ाएँ तो कोई बात नहीं, मुझे पढ़ाइए। वह दूसरों से ईर्ष्या नहीं करता। वह कह रहा था कि दूसरे सीखना-पढ़ना चाहते हैं या नहीं, इससे उसे लेना-देना नहीं है। मैं तो अपना जीवन खोजना चाहता हूँ। मुझे औरों से डाह नहीं, उनकी चिंता नहीं। मैं आप में तन्मय हो जाऊँ, आप में सराबोर हो जाऊँ, मेरा पात्र आपके द्वारा छलक उठे, बस इतना ही चाहिए। आप दूसरों पर बरसें, अवश्य बरसें, पर उनकी चिंता आप जानें। मैं तो अपनी बात सोच सकता हूँ और इसीलिए आपकी याचना करता हूँ। यह हृदय-प्रवाह अत्यंत शुद्ध प्रेम का है। भंगी के गंदे फटेहाल बालक में मुझको जो शुद्ध प्रेम देखने को मिला वैसा अन्यत्र स्वच्छ वस्त्र धारण करने वालों की टीमटाम के पीछे देखने को नहीं मिला, न मिलेगा।

❑

बाल-मंदिर के बालक अलग-अलग जात और रंग के हैं, पर उन सबकी शिकायत लगभग एक-सरीखी है कि उन्हें माता-पिता पीटते हैं। उनको अपने माता-पिता के विरुद्ध खड़ा होना अच्छा लगता है। जब मैं उनसे पूछता हूँ कि जिन्हें उनके माता-पिता पीटते हों, वे अपने हाथ ऊपर उठा दें तो लगभग सभी हाथ उठा देते हैं। इससे ऐसा मालूम पड़ता है कि अच्छे भले लोगों—सयाने-समझदार लोगों के बच्चों की भी पटाई होती है। मेरे द्वारा 'बच्चे को पीटे नहीं' इस आशय का पत्र उन्हें अपने माता-पिता के लिए लेकर जाना अच्छा लगता है। वे बराबर याद रखकर मुझसे ऐसा पत्र ले जाते हैं और हाथों-हाथ माता-पिता को देते हैं। जब कभी माँ-बाप उन्हें पीटते हैं तो वे याद भी दिलाते हैं कि उन्हें सजा न दें। पीटेंगे तो अमुक गुरुजी से कह देंगे। इसके बावजूद अगर बच्चों को माँएँ पीटती हैं तो मैं उनके घर पर जाता हूँ, तब बच्चे कहते हैं : 'आपने मार-पीट की मनाही की थी, फिर भी यह शरारत करती हैं।

माता-पिता अपने बच्चों को किसलिए पीटते होंगे? बड़ी विचित्र बात है कि पिटने वाले बालक अपने माता-पिता को पसंद नहीं करते। बालक जीना चाहते हैं, माता-पिता की मदद के बगैर वे बड़े नहीं हो सकते, अतः मार-पीट करने वाले माता-पिता को उन्हें सहन करना पड़ता है। जब माता-पिता उन्हें चाहने लगते हैं तो वे भी अत्यधिक प्रेम प्रकट करते हैं अर्थात् लाड-दुलार और मनोरंजन करते हैं। पर वे अपने माता-पिता की रीति-नीति को भूल नहीं जाते; अतः वे प्रेम से नहीं अपितु स्वार्थ से उनके साथ व्यवहार करते हैं।

पिटने वाले बालक मन ही मन बड़बड़ाते भी हैं : 'माँ को यों पीटूँगा, पापा को यों मारूँगा!' अगर माता-पिता का खौफ अधिक हो अथवा उनके प्रति झूठा सम्मान का भाव हो तो बच्चे पापा के बजाय किसी बलवान व्यक्ति का यथा—पुलिस का नाम लेकर बोलते हैं : 'पुलिस को मारूँगा।' कई बार बच्चे बीमार पड़ते हैं तब न बोलने जैसी बातें भी बोल जाते हैं : 'माँ हमें पीटती है। पापा, हमें मत पीटना।' क्या माता-पिता ये बातें जानते हैं? अगर जानते हैं तो फिर अपने व्यवहार में परिवर्तन क्यों नहीं करते?

❑

अच्छे अध्यापक को बालक चाहते हैं और बुरे से बहुत चिढ़ते हैं। मैंने एक बार एक बालक से कहा : 'अगर तुमको गुरुजी पीटते हैं तो बड़े होकर तुम उन्हें मत पीटना। ऐसा काम हमें नहीं करना चाहिए।'

बालक जोर से बोला : 'मारूँगा, मारूँगा; सौ डंडे मारूँगा।'

जिस अध्यापक के लिए बालक सौ डंडों की तजवीज सुनाता है उस अध्यापक को तो जिन्दा ही नहीं रहना चाहिए। बालक अब लंबे समय तक अध्यापकों के साम्राज्य को टिकने नहीं देंगे। या तो वे शिक्षक को सम्पूर्ण प्रेमभाव से स्वीकार करेंगे या फिर पद-भ्रष्ट कर देंगे। उनको शिक्षक तो चाहिए पर खराब शिक्षक नहीं चाहिए। पुराने जमाने से ऐसा ही कुछ चला आ रहा है। उस जमाने के बालक गुरुजी को पसंद नहीं करते, तो पाटी का जोर से वार करके भाग जाते थे। बाद वाले बालकों ने भाग जाना पसंद नहीं किया क्योंकि उनको लगा कि शाला उनकी भी है। इसलिए वे लोग शिक्षकों को शाला में ही सताने लगे। उनकी कुर्सियों में आलपिनें चुभो देते। लगता है अब ऐसा समय

आ गया है कि सारे लड़के मिलकर कहीं अध्यापक को कमरे में बंद न कर दें, उनका अन्न-जल न बंद कर दें। अगर बालक यह मान लें कि शाला हमारी है, हमारे विद्यालय में शिक्षक का महत्त्वपूर्ण स्थान है तो निश्चय ही वे शिक्षक के लिए बहुत कुछ करने को तैयार रहेंगे। अध्यापकों को अब दुनिया के राजाओं के सामने अपना ताज उतार देना चाहिए और बालकों की स्वतंत्र सभा का एक सभासद होकर पेश आना चाहिए।

❑

'मनुष्य जाति का भविष्य नन्हें बालकों के कदमों से चलकर प्रगति कर रहा है।'*

फिलिप्स ब्रुक्स का यह विचार सुंदर और सत्य है। बालक नन्हें हैं, उनके पैर नन्हें हैं पर भविष्यत उन्हीं के कदमों पर आगे बढ़ रहा है। इस वाक्य में कितनी सुंदर रीति से बाल-जीवन की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है! और कितनी अनुदारता से हम लोग आज बालकों को समझ रहें हैं? कदाचित हम लोग बालकों से 'पीछे कदम-प्रयाण' (Backward march) कराने में लगे हैं, क्योंकि उन्हें आगे बढ़ाने में हमारी रुचि नहीं है; हम उन्हें आगे बढ़ने के साधन मुहैया करना नहीं चाहते। साधन के बगैर आगे बढ़ने वाले बालकों को हम बाँध कर रख लेते हैं। क्या हम भी उनके साथ आगे बढ़ने के प्रयाण में शरीक होंगे? हम बालकों के पीछे-पीछे तो चलें।

श्यामजी का पुत्र राम हमारे बाल-मंदिर में पढ़ता है। श्यामजी उसकी पढ़ाई पर बहुत ध्यान देते हैं और यह स्वाभाविक भी है। राम वैसे तो चंचल, चपल, अच्छा लगने जैसा बालक है, पर दिन का ज्यादातर समय वह मैकेनो बनाने में बिताता है। इस काम में वह खोया रहता है और खुश रहता है। नई-नई चीजें बनाता है और बिना थके पूरा दिन इसी में गुजार देता है। उसे पढ़ने-लिखने को कहें तो मुँह बिगाड़ने लगता है। जरा-सी देर के लिए कभी लिखने-पढ़ने का काम हाथ में लेता है, पर उकता कर छोड़ देता है।

* The future of the race marches forward on the feet of little children—Phillips Brooks.

एक और लड़का है रवि, भीमजी का बेटा। रवि शांत और गंभीर है। उसे पढ़ना बहुत जल्दी आ गया। ज्यादातर वह पढ़ता ही रहता है। उसके सामने भी मैकेनो रखा रहता है पर वह शायद ही उसे आँख उठाकर देखता होगा। सभी बालकों में किताब पढ़ने वाले के रूप में उसी का नाम जबान पर आता है। राम मैकेनो के काम में जितना तल्लीन रहता है रवि उतना ही वाचन में तल्लीन रहता है।

दोनों लड़कों में से रवि लुहार का बेटा है और राम ब्राह्मण का। रवि का पिता भीमजी इंजीनियर हैं और राम के पिता श्यामजी अध्यापक, साहित्यकार, कवि हैं।

दोनों बच्चे बाल-मंदिर में प्रगति कर रहे हैं, ऐसी मेरी धारणा है। दोनों बाल-मंदिर को चाहते हैं, दोनों प्राणवान हैं। मुझे इन दोनों की बिलकुल चिंता नहीं रहती।

दोनों के पिता मेरा सिर खपाते हैं। रवि के पिता कहते हैं : भाई! इसको जरा मैकेनो दो न! बाँच-बाँच कर क्या इसे मास्टर बनना है या लेखक? मुझे तो इसे मेरे वाली लाइन पकड़ानी है। आप तो जैसे-तैसे इसे मैकेनो में रुचि लेने योग्य बना दें!'

राम के पिता श्यामजी भी इसी तरह मेरे प्राण पीते हैं। कहते हैं कि 'इस बालक को अभी तक अच्छी तरह से बाँचना भी नहीं आता। मैकेनो सीखने से कौनसे इसके अच्छे दिन आ जाएंगे? आप तो इसे दो-दो घंटे रोजाना जबरदस्ती बाँचने के लिए बिठाओ!'

इन दोनों पिताओं से मैं क्या कहूँ? इनको बात समझाएँ तो गले नहीं उतरती। मैं इन्हें कहता हूँ : 'भाइयो! अगर ये बच्चे सीखना चाहते हैं तो सीखने दो। मैं तो इन्हें जोर-जबरदस्ती सिखाता-पढ़ाता नहीं, ये स्वेच्छा से खुद ही करते हैं; अपनी रुचि के मुजब इनको जिस चीज की जरूरत होती है, ये अपने आप ले लेते हैं। ब्राह्मण के बेटे का मन इंजीनियर का है और लुहार के बेटे का मन साहित्यकार का। भले ही वे जन्म से ब्राह्मण या लुहार हों, पर उनके रुझान अलग-अलग हैं। अब ये रुझान कहाँ से आए, यह ईश्वर जाने, पर ये हैं और दिन-दहाड़े नंगी आँखों से देखे जा सकते हैं। ये जो भी सीखना चाहते हैं, इन्हें सीखने दो न भाइयो!'

पर उस साहित्य-रसिक पिता को मेरी बात नहीं रुचती। अपनी आँखों के सामने अपने पुत्र को वे भावी लुहार देखना नहीं चाहते। उन्हें तो अपनी प्रतिकृति देखने में ही खुशी है। यही दशा उस लुहार पिता की है। उन्हें लगता है कि अगर उनका बेटा इंजीनियर नहीं बना तो सत्यानाश हो जाएगा।

मैं सोचता हूँ कि ये दोनों पिता जरा-सी भी चिंता न करें तो कितना अच्छा हो! जिस बालक की अभिवृत्ति ही इंजीनियर की नहीं है, अगर उसे इंजीनियर बनाया जाएगा तो वह खराब इंजीनियर बनेगा; और जिसकी अभिरुचि साहित्य में या कविता में नहीं है, अगर उसे कवि बनाया जाएगा तो वह खराब कवि बनेगा। इन दोनों खराब परिणामों से अगर उनके पिता उन्हें बचा लें तो? ये पिता अपने पुत्रों का भला चाहते हैं या बुरा, यह बात मेरी समझ में नहीं आती। वे मानते हैं कि भला चाहते हैं, लेकिन परिणाम बुरा आएगा। जो जिसमें योग्य है उससे उसे उल्टे मार्ग में डाला जाएगा तो कैसा परिणाम निकलेगा?

❑

मेरे एक सगे हैं, जो सर्वे विभाग में सेवारत हैं। मैं जब भी उनसे मिलता हूँ वे बड़बड़ाते रहते हैं : 'मेरी बदनसीबी थी, जो इस विभाग में आया। पूरे-पूरे दिन बस मापना और नक्शे बनाना। तुम्हारे जैसी बात कहाँ? वाचन, चिंतन, लेखन और मित्रों के साथ चर्चा-परिचर्चा और हास-परिहास!'

इस व्यक्ति को मैंने अपने धंधे को लेकर उत्साह के साथ बातचीत करते कभी नहीं सुना। पूरा विभाग खराब, काम खराब, सब कुछ खराब—यही सब कहते रहते हैं वे।

एक और मित्र हैं मेरे। वाचन, चिंतन, लेखन, चर्चा और वार्ता में उनकी रुचि है। ऊपर वाले मेरे सगे को हमेशा इनसे ईर्षा रहती है। वे इनका बखान करते हैं और खुद को धिक्कारते हैं। फिर भी मेरा यह मित्र अपनी स्थिति से अत्यंत ऊब-उकताहट महसूस करता है। कहता है : 'दिन भर लिखना और पढ़ना भला किसे अच्छा लगेगा? इसके बजाय तो एकाध सीधी नोकरी होती और पाँच घंटे दफ्तर में बैठकर नक्शे बनाने होते तो नक्शे बनाता और जमीन मापनी होती तो यह काम कर देता; पर यहाँ बैठे-बैठे लिखना-पढ़ना तो कत्तई अच्छा नहीं लगता।'

इन दोनों असंतुष्ट प्राणियों के असंतोष का मूल इनकी मूल मनोवृत्तियों में निहित है। जिस व्यक्ति की मूल मनोवृत्ति साहित्य-प्रेम है वह सर्वे विभाग में पड़ा है और जो व्यक्ति सर्वे अथवा ऐसे किसी विभाग के योग्य है, उसे साहित्य संबंधी काम की नौकरी करनी पड़ रही है।

हम सोचेंगे कि विधि की कैसी विचित्रता है। पर सच मानें यह विधि की विचित्रता नहीं अपितु शिक्षा की करुणता है। जो सर्वेयर है वह सर्वेयर का पुत्र है; इसका दादा भी सर्वेयर था। इसे परंपरा से चले आए धंधे में डाला गया था। इसे यही काम पिता ने सिखाया था, इसी काम में पिता ने उसकी उन्नति सोची थी। पिता की दृष्टि खुद से आगे नहीं गई। विद्यालय में शायद किसी ने उसके साहित्य-प्रेमी मन को देखा नहीं होगा और देखा होगा तो उसके पोषण की वहाँ गुंजाइश नहीं होगी। बस, पिता ने सोच लिया कि बेटा सर्वेयर बन जाए और बेटे को सर्वेयर बनना पड़ा। अगर बेटे ने सोचा होता कि उसे क्या बनना है, तो वह साहित्य में उतरता, इससे संबंधित कोई प्रवृत्ति तलाशता, क्योंकि वह साहित्य का जीव था। पर उस जबरन लिखने-बाँचने का दायित्व वहन करने वाले मेरे दूसरे मित्र को देखो। वह भी इसी तरह इस हालत में आ गिरा था। उसके काका और बड़े भाई आदि सब यही काम कर रहे थे। उनको लगा कि यह भी इसी लाइन में आ जाए तो अच्छा रहे। बस उसे इसी लाइन में डाल दिया। पर उसकी वृत्ति सर्वेयर अथवा ऐसे किसी धंधे के लायक थी फिर उसे इन कामों में लगने का अवसर नहीं मिला।

इस तरह अपने मन की रुचि के अनुसार बाँचने-पढ़ने का और उससे जुड़ी प्रवृत्ति करने का दोनों को मौका नहीं मिला, इस कारण से दोनों अपनी-अपनी प्रवृत्तियों से और अपने आप से ऊब रहे हैं। पर अगर उनको बचपन में विद्यालय में अपनी रुचि के अनुसार पढ़ने दिया जाता और रुचि के अनुसार किसी व्यवसाय में योग्य बनने दिया जाता तो? तो वे सुखी होते। अपना काम करते हुए उनका सेर खून बढ़ता।

यह बात बिल्कुल सही है। मेरे पड़ौस में एक गवैया है। वह एक प्रतिष्ठित डॉक्टर का पुत्र है। डॉक्टर ने उसे डॉक्टर बनाने के लिए बहुत फांफे मारे, पर बचपन से पुत्र को गाने-बजाने का ही शौक। इस वजह से कुछ और पढ़ने का उसका मन नहीं हुआ। पिता भला गायक का धंधा सीखने की हाँ कैसे भरें? इस काम में रखा ही क्या है? बेटा मैट्रिक में चार बरसों तक फैल हुआ। मैट्रिक में पढ़ने को था

ही क्या ? वह तो दो मित्रों के संग मिलकर गाता, बजाता और मौज करता। अंत में पिता थक गए। मेडिकल लाइन में तो जाना नहीं हुआ, आखिरकार बंबई में नोकरी की। पर उसमें तो वह और भी थक गया। आखिर में संगीत कक्षा में गया और वहाँ खूब शिक्षा ग्रहण की। संगीत के क्षेत्र में उसने नाम कमाया। आजकल वह बंबई में प्रसिद्ध है। बार-बार उसके आयोजन होते हैं। बहुत आनंद में है, मजे करता है। न कभी अपने आप से ऊबता, न संगीत से। देखा, यह व्यक्ति इच्छित काम में लगा है अतः सुखी है। मान लें कि बहुत-बहुत मेहनत करके उसने मैट्रिक कर लिया होता और दस बारह वर्षों बाद डॉक्टर बन गया होता, तब भी क्या उसे अपने डॉक्टरी व्यवसाय में आनंद आता ? हर्गिज नहीं।

आजकल सैंकड़ों-हजारों नहीं अपितु लाखों लोग अपने धंधों से अनेक कारणों से ऊबे हुए हैं, वे सुखी नहीं हैं। इसका कारण यह है कि वे गलत व्यवसायों में आ फँसे हैं। ऐसा नहीं है कि वे होशियार न हों, अथवा दुःखी होना चाहते हों। कारण वही है जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है कि जो धंधा उन्हें चाहिए था, वह उन्हें मिला नहीं या वे प्राप्त नहीं कर पाए, क्योंकि वैसी पढ़ाई की कहीं व्यवस्था नहीं थी, क्योंकि चालू विद्यालयों और माता-पिता ने उनको जहाँ-तहाँ जो उपलब्ध हुआ वहीं पढ़ाया और बेचारे जिस-तिस धंधे में उतर गए। या फिर पेट के लिए बेचारों को जो हाथ लगा उसी को पकड़ लेना पड़ा।

जब तक विद्यालयों में शिक्षण का ऐसा वातावरण नहीं मिलता कि जो व्यक्ति के आंतरिक रुझान को प्रकट कर सके; जब तक विद्यालयों में रुझानों के अनुरूप प्रवृत्तियों में तैयारी की व्यवस्था नहीं होगी बल्कि अमुक-अमुक विषय ही पढ़ाए जाएँगे और उनके परिणामस्वरूप अमुक धंधों के लिए तैयारी की ही व्यवस्था की जाएँगी, तब तक लोग गलत धंधों में पड़ते रहेंगे; असंतुष्ट एवं दुःखी जीवन बिताएँगे या फिर किन्हीं समाधान भरे प्रयासों में अपनी जीवन-शक्ति खो बैठेंगे।

❑

हम किसी प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति को देखते हैं तो उससे प्रभावित हो जाते हैं। वाह, क्या अद्भुत शक्ति है, ऐसा कहते हुए उसके समक्ष झुक जाते हैं। बात ठीक भी है। प्रतिभा सम्मान और नमन की पात्र होती है। पर दो-पाँच व्यक्ति ही प्रतिभा-सम्पन्न क्यों हैं ? क्या प्रतिभा कुदरती वरदान है अथवा प्रतिभा जीवात्मा को अनुकूल वातावरण में मिली अनुकूल रुझान की शिक्षा है ?

लोगों की मान्यता है कि प्रतिभा कुदरती है; शिक्षण से वह नहीं आती। मुझे भी यही लगता है कि प्रतिभा कुदरती हो या न हो, पर वह शिक्षा के द्वारा तो संभव नहीं है। हाँ, कई बार ऐसा हुआ है कि खराब शिक्षण से भागकर जिन लोगों ने अपने आप शिक्षा ग्रहण की, वे लोग प्रतिभाशाली देखने को मिले हैं। प्रतिभा अर्थात् अपनी अंतस्थ शक्तियों का भरपूर विकास। काव्य-शक्ति का मनोनुकूल विकास अर्थात् प्रतिभा-सम्पन्न कवि; लेखन-वृत्ति का मनोनुकूल सम्पूर्ण विकास अर्थात् प्रतिभा-सम्पन्न लेखक। मनुष्य में प्रतिभा के बीज होते ही हैं; प्रत्येक मनुष्य मनुष्य होने के कारण उसमें प्रतिभा के बीज विद्यमान रहते हैं।

किसी मनुष्य में कवि की प्रतिभा होती है, किसी में संगीतकार की तो किसी में कुम्हार की। दुनिया के कुम्हारों में सर्वश्रेष्ठ कुम्हार बनना, उस व्यवसाय की महत्ता बढ़ाना, उसमें नए अनुसंधान करना, उसे धन-सम्पन्न बनाना, उसे प्रतिष्ठा दिलानी—इतना कुछ जो कर सके यह कुम्हार की प्रतिभा है और यह प्रतिभा उसमें हो सकती है। इतना कुछ करने के लिए अगर कुम्हार को पूर्ण अवसर मिल जाए तो हम प्रतिभा ही कहेंगे।

फोर्ड आज एक प्रतिभा कहलाता है; वह एक सफलतम लुहार से बढ़कर नहीं है। वह सामान्य लुहार न रहकर लुहारों का लुहार हो गया; सामान्य यंत्र चलाने वाला न रहकर यंत्रों का निर्माता हो गया। उसकी प्रतिभा नवीनता और विशेषता लाई है, यही नहीं, नया अर्थशास्त्र और नया दर्शन लाई है। जैसे लुहार प्रतिभा-सम्पन्न हुए हैं; वैसे हज्जाम भी हो सकते हैं। प्रतिभा के लिए फकत अनुकूल वातावरण की जरूरत है। आज के विद्यालय अनुकूल वातावरण देने लगें और पढ़ाने की पीड़ा छोड दें तो अवश्य ही अनेक प्रवृत्तियों में अनेक प्रतिभाएँ प्रकट हो सकती हैं। बाकी तो आज के विद्यालय प्रतिभाओं को चूर-चूर करने वाले मजबूत और प्रतिष्ठित कारखाने मात्र हैं।

❑

बाल-मंदिर में नाटकों की तैयारी चल रही थी। नाटक देखने के उत्सुक बालकों की भीड़ कभी से बंद दरवाजे के सामने गोलबंद खड़ी थी। तभी मैंने एक बालक को दूसरे बालक से बातें करते सुना : 'गिजुभाई मुझको अच्छे नहीं लगते, उनका चेहरा काला है।'

मैं दूर खड़ा उनकी बातें सुन रहा था। बात मेरी समझ में नहीं आई। मेरा चेहरा काला कहाँ, गेहूँआ है और ऐसा हो नहीं सकता कि बालकों को मैं अच्छा न लगूँ। भले ही मैं कोई खास रूपवान न होऊँ पर कुरूप तो हर्गिज नहीं माना जा सकता। मैं उलझन में पड़ गया।

मैं सोच ही रहा था कि तभी वह बालक मेरे पास आकर कहने लगा : 'मैं नाटक देखने नहीं आऊँगा।'

मैंने सोचा : 'नाटक और मेरे काले चेहरे के बारे में कोई सम्बन्ध होना चाहिए।' विचार-साहचर्य (एसोशिएसंस ऑफ आइडियाज) से मेरे दिमाग में आया : हाँ, उस दिन जो 'भय का भेद' नाटक खेला गया था, उसमें भैरव के वेश को देखकर कई बालक रो पड़े थे, संभवतः यह बच्चा भी उन्हीं में से एक होगा।

मैंने बालक के समक्ष हँसते हुए कहा : 'अच्छा न लगे तो नाटक में मत आना। पर आज मैं अपना चेहरा काला नहीं बनाऊँगा। उस दिन तो मैंने काली वेशभूषा पहन रखी थी, जिससे बच्चे डरने लगे थे। क्यों, सही है न ?'

बालक बोला : 'अरे, सभी रो रहे थे। आप बहुत खराब लगे थे।'

मैंने कहा : 'आज मैं खराब नहीं लगूँगा।'

वह बालक उस दिन नाटक देखने आया। हर बार नाटक में से उठकर चले जाने वाले बालकों के मन का रहस्य आज पता लगा।

उस दिन खेला गया 'भय का भेद' नाटक छोटे बच्चों के लिए बहुत लाभप्रद सिद्ध हुआ। असली भैरव बनने के लिए मैंने बड़े ही ध्यान से डरावना वेश बनाया था। संवाद बोलते समय भी मैं जोरदार भारी आवाज में बोल रहा था। बड़े दर्शकों ने मेरी वेशभूषा और अभिनय की बहुत तारीफ की, जबकि छोटे बच्चों में से बहुत से डर गए थे—कदाचित पूरी जिन्दगी भर के लिए। नाटक बाल-दर्शकों के लिए था। बड़ों की तारीफ अपनी जगह सही थी, फिर भी बालकों की दृष्टि से हमारी मेहनत अकारथ ही गई।

उस रात मैंने सोचा : 'क्या नाटक का चयन सही था ?'

उत्तर मिला : 'नहीं।'

अलबत्ता सभी कलाकारों को संतोष था। बड़ी उम्र के दर्शकों को बहुत आनंद आया। प्रदर्शन-वृत्ति और विवेचन-वृत्ति को नाटक द्वारा अच्छी-खासी खुराक मिली। पर बालकों को निष्फलता हाथ लगी।

हम लोग कई बार बालकों के लिए मंचित होने वाले नाटकों में, कही जाने वाली कहानी में, दिखाये जाने वाले दृश्यों (नाटक, सिनेमा, चित्र आदि) के चयन में बहुत बड़ी गलती कर बैठते हैं। उपर्युक्त भूल की तरफ मेरा ध्यान पहले से क्यों नहीं गया, यह सोच-सोचकर मुझे साश्चर्य दुःख भी हुआ और खुद पर हँसना भी आया।

छोटे बालक भयानक दृश्यों को देखकर डरने लगते हैं, यह बात मेरे सामान्य ज्ञान में थी, इसके बावजूद भी जब इतनी बड़ी त्रुटि हो गई तो उसे लेकर मैं अपनी मानसिकता का विवेचन करने के लिए ललचा उठा।

प्रसिद्ध ब्रिटिश बाल-शिक्षाशास्त्री ए.एस. नील ने एक एकांकी नाटक लिखा था Casting Out Fear, जिसका श्री हरभाई त्रिवेदी ने 'भय का भेद' शीर्षक से गुजराती भाषा में रूपांतरण किया था और मैंने उसे मंचित किया था। यह सच है कि इस नाटक में अभिव्यंजित भय दलित-दमित-अवरुद्ध प्रेम की परिणति है। Fear is thwarted Love; Hate is thwarted Love. इस नाटक के माध्यम से ए.एस. नील यह समझाना चाहता है कि Let us not fear but love; Remove fear and there is love behind it. अर्थात् हम डरें नहीं वरन् प्रेम करें। भय को हटा दें, उसके पीछे हमें प्रेम दिखाई देगा। यह बात सही है। मुझे और हरभाई को यह बात मान्य है। पर नील ने यह नाटक क्यों लिखा होगा ? हरभाई ने इसे अनुवाद के लिए क्यों चुना होगा ? और मैंने इसे किसलिए खेला होगा ?

क्या अपने भीतर विद्यमान किसी भय को निकालने के लिए नील ने यह नाटक लिखा, हरभाई ने इसका अनुवाद किया और मैंने इसे खेला ? अथवा नील, हरभाई और मैं प्रेम-स्वरूप थे, और बिना समझे हममें आरोपित भय लोगों को हमारा स्वरूप देखने नहीं देता—यही सिद्ध करने के लिए मैंने यह किया था ?

क्या हम लोग अपनी मानसिक परेशानियों को दूर करने के लिए अक्सर बालकों और दूसरों को जोखिम में नहीं डाल देते ? मान लें कि बालक यह जानते थे कि गिजुभाई स्वयं भैरव बने हैं और कइयों को यह पता भी था। जब चलते नाटक में कई बच्चे रो पड़े और उनमें हड़कंप मच गया तो मैंने अपना काला चौंगा उतार दिया और बालकों को अपने प्रेम का हँसता-मुस्कराता चेहरा दिखाया। तब

भी क्या यह सच नहीं कि डरे हुए बालकों के दिल धड़क रहे थे, मेरा प्रेम का रूप देखने के लिए उनमें रत्ती भर उत्कंठा-उमंग नहीं थी, बल्कि वे वहाँ से निकल भागने को उतारू थे? और कई बालक तो चले भी गए थे। उसके बाद तो मैं कितनी ही बार बालकों के सामने यह स्पष्टीकरण दे चुका था : 'अरे भई! वो तो मैं था। मैंने काले कपड़े पहन रखे थे।' बच्चों ने मेरी बात को स्वीकार भी किया था कि इसमें डर की बात ही क्या थी और उन्होंने यह बात अपने दिमाग में भी रख ली, फिर भी मैंने महसूस किया कि उनका डर मिटा नहीं था— इसका सबूत था यह बालक।

इस नाटक की प्रस्तुति को भले ही मैं और मेरे अन्य कलाकार साथी कितना ही सराहते हों, पर इस बात की प्रतिज्ञा तो मैंने नाटक के अगले ही दिन कर ली थी कि आइंदा यह नाटक बालकों के समक्ष हर्गिज नहीं खेला जाएगा। नाटक की रात दो बालकों को बुखार आ गया था और एक बालक तो कई दिनों तक आया भी नहीं। चाहे मैं कितना ही मानकर चलूँ कि बालकों को डरना जरूरी है; भय से निकले हुए बालक निर्भय बनते हैं; भय प्रेम की शुरुआत है; भय में निर्भयता के मूल हैं। मैं ऐसे भ्रामक मनोविज्ञान (quack psychology) को नहीं मानता। भय की जो छाप एक बार अंकित हो जाती है वह बुद्धि-बल से, तर्क-विकास से, तत्त्वज्ञान के बल से अथवा फौलाद जैसे कमाये हुए शारीरिक-बल से भी नहीं मिटती। बाल्यावस्था में पड़ी भय की छाप मस्तिष्क में भूत की तरह घूमती रहती है और व्यक्ति को हमेशा डराती रहती है।

❑

विनायक पर बचपन में चोर से डरने की छाप पड़ गई थी। चोर नाम सुन लें या आधी रात को कोई उनके घर में कंकर भी फेंक दे तो बिस्तर में लेटे-लेटे ही वे पसीने से तर-बतर हो जाएँगे। मुझ पर भी इसी तरह बचपन में भूतों की बातें सुनकर भूत से डरने की छाप पड़ी थी। आज अड़तालीस वर्षों के बाद भी वह छाप वैसी की वैसी है।

लार्ड लिटन की Haunted House कहानी सुनकर मुझे सोते समय भय की कँपकँपी होने लगती है। रात को भूतों के सपने आते हैं और मैं जाग जाता हूँ। वैसे मैं वैज्ञानिक अभिवृत्ति वाला हूँ। 'हॉटेड हाउस' की कहानी भूतों को सिद्ध करने की बजाय उन्हें अप्रमाणित अधिक करती है। पर यह कहानी इस बात का

विश्वास दिलाती है कि बाल्यकाल में भय की जो छाप पड़ जाती है वैसी की वैसी छाप ऐसी कहानी भी यथातथ्य सजीव कर देती है। बड़ी उम्र में हम जो भय महसूस करते हैं, वह बाल्यावस्था में लगे भय का प्रभाव मात्र है। जिस किसी बालक को बाल्यावस्था में कभी डराया नहीं गया अथवा जो कभी डरा नहीं, वह बड़ी उम्र में भी कभी नहीं डरता। बड़ी उम्र में बुद्धि अधिक विकसित होती है। अतः उस उम्र में आदमी डरता नहीं। अज्ञान और बुद्धि के अल्प विकास की अवधि में ही भय पैदा होता है। जब एक बार भय की छाप पड़ जाती है तो बुद्धि के विकास के बावजूद, अनुभव में वृद्धि हो जाने के बावजूद, बहादुरी के अनेक पराक्रम करने की शक्ति आ जाने के बावजूद, और सचमुच बहादुरी दिखाने के बावजूद डरना जारी रहता है। अगर मैं यों कहूँ तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि सभी लोग डरते हैं, क्योंकि वे बाल्यावस्था में डरे हुए होते हैं।

❑

हमें इस बात की कोशिश करनी चाहिए कि बाल्यावस्था में बालकों के सामने भूत-प्रेत या किसी तरह के डर की बातें न करें ताकि बड़े होने पर वे ऐसी भ्रामक बातों-घटनाओं से न डरें। बड़े होने पर वे ऐसे प्रसंगों को सुनेंगे जरूर, पर वे उनसे डरना नहीं सीखेंगे, न उन्हें डर के सपने आएँगे।

सुशीला ठीक ही कहती है कि उसे किसी का डर नहीं लगता। मैं उसके कथन का समर्थन करता हूँ क्योंकि सुशीला-बचु के बाल्यकाल के शिक्षण में भय की बातों का सख्ती से बहिष्कार किया गया था। लगता है टीकु-बचु भय खाती हैं अतः बड़े होने पर भी डरेंगी। वे पाँच वर्ष की उम्र लाँघ चुकी हैं अतः डरने की उनकी शिक्षा पूरी हो चुकी है, कारण यह है कि भले ही मैंने उनके सामने भूत-प्रेतादि को लेकर एक शोधकर्त्ता की तरह बातचीत की हो, परंतु शोधकर्त्ता का काम अलग है और शिक्षाशास्त्री का अलग। शिक्षाविद के रूप में शोधकर्त्ता का काम कैसे किया जाए, इसके बारे में अभी मुझे शोध करनी चाहिए।

❑

कई लोग कहा करते हैं कि मैं डरता नहीं; छाती ठोककर कहते हैं कि मैं नहीं डरता; बार-बार सुनाकर कहते हैं कि मैं डरता भी नहीं। अगर हमें डरने

वाले लोगों की बस्ती की गणना करनी हो तो ऐसे लोगों को ही शामिल कर लें। काका साहेब ने कहा था कि गुंडा सबसे बड़ा डरपोक होता है (A bully is a great coward)। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह बात बिल्कुल सही है।

चन्द्रमणि बोला : 'जाओ, डरो मत। रात्रि को सभा में जरूर हाजिर होऊँगा और हथियार की कत्तई जरूरत नहीं।'

जब वे चले गए तो चन्द्रमणि ने अपनी पुत्री निर्मला से कहा : 'अरे, वह मेरी लकड़ी कहाँ है ?'

मित्र ने पूछा : 'क्यों, चलोगे न ?'

चंद्रमणि ने उत्तर में कहा : 'आता हूँ। यह नटवर सो नहीं रहा। मैं इसे सुलाने के बाद आऊँगा। तुम चलो। मैं अभी आया।'

मित्र गया। पत्नी ने चंद्रमणि से कहा : 'तुमको जाना हो तो जाओ। नटु को मैं सुला दूँगी।' तभी चन्द्रमणि ने खाट पर लेटते हुए कहा : 'अब जाने की कोई जरूरत नहीं। वहाँ तो अब सभा शुरू हो गयी होगी।' पत्नी उसे चिढ़ाने लगी : 'घर के शूरवीर ! वहाँ सभा में मारपीट होने वाली है, इसलिए यहाँ सो रहे हो ?'

स्वाभिमान और भय के बीच रास्ता निकालते हुए चन्द्रमणि माली समाज में आयोजित भजनमंडली में जा पहुँचते हैं। मारपीट वाली सभा में नहीं जाते। वहाँ जाकर उन्होंने कहा : 'लो, मैंने आपको वादा किया था न, कि भाषण देकर जाऊँगा, इसलिए आज जब काम नहीं था तो चला आया। अच्छी बात है आप सब यहाँ इकट्ठे हो।' चंद्रमणि ने बड़े जोश-खरोश से भाषण दिया और निर्भयता की महिमा बताई। भाषण बहुत सफल रहा।

सवेरे पड़ौसी ने पूछा : 'सभा में क्यों नहीं आए ?' चंद्रमणि ने कहा : 'अरे भाई ! उन मालियों को वादा कर रखा था, अतः वहाँ जाना पड़ा।'

A great coward is a great bully.

❑

लिखाते-लिखाते मेरे मित्र कहने लगे : 'लेख ज्यादा लंबा तो नहीं होगा न ?'

मैंने कहा : 'नहीं, नहीं।' मेरे मित्र को, चूँकि शाम पड़ रही थी और उठना था, अतः चार पेज का लेख भी लंबा लग रहा था। मैं चार महीनों की

बीमारी के बाद लिखवाने की खुशी में था अतः चालीस पन्ने लिखवाने पर भी 'ना' नहीं करना चाहता था। वस्तुतः लंबाई-छोटाई का आधार मन की दशा पर निर्भर करता है। (Length and shortness seem to be subjectively related.)

कदाचित मेरा मित्र कहेगा : 'मेरा हेतु अलग था।' यह संभव है। उसके तमाम हेतुओं की कल्पना करूँ तो एक-एक कर सभी के बारे में बता सकता हूँ। वे 'वड़लो' नामक मासिक प्रकाशित करना चाहते हैं, उसके लिए शायद उन्हें यह लेख लंबा होने का भय था। उनको मेरी 'चलते-फिरते' की पिछली शैली का पता है अतः यह शैली उन्हें लंबी लगी होगी। बात सही है, लंबे समय से उस तरह लिखने की आदत छूट गई थी, इस वजह से पुराने ढंग से लिखाने की बात पकड़ में नहीं आई। मेरा मित्र सही होगा तो उसके सोच के पीछे यह हेतु होगा कि आगे चलने पर उसे पुस्तकाकार प्रकाशित करना होगा तो शैली में फर्क आने के कारण आनंद कम आएगा। इसके विपरीत अगर मैं उसकी बात स्वीकार न करना चाहूँ तो यह कहूँगा कि शैली में बदलाव होगा तभी तो आनंद आएगा, इसीलिए तो मैंने लंबी शैली का उपयोग किया है। मात न खानी हो तो आदमी ऐसी तर्क-सम्मत व्याख्या (Rationalization) कर सकता है कि जो लंबे समय तक टिके नहीं।

❑

बातों के प्रवाह में हम तिरछे चले आए। मूलतः तो हमें यह कारण जानना था कि सुशीला क्यों नहीं डरती।

निर्भयता की शिक्षा के कारण वह नहीं डरती, यह बात जितनी सच है, उतनी ही रात को अँधेरे में जाते या कि प्राइमस जलाते वह नहीं डरती, इसकी वजह है अज्ञान।

विले-पारले में एक दर्जी की स्त्री कुएँ में गिर पड़ी और दामु और विनु जब एक के पीछे एक झट से कूद पड़े तो वे डर रहे थे, ऐसा नहीं कहा जा सकता। पर उनकी निर्भयता अज्ञान के कारण थी। अंदर कूदने के बाद दामु को पता लगा कि एक स्त्री के शव को बाहर निकालना कितना भयंकर है। इसके लिए उसने प्राणों को कितने जोखिम में डाल दिया, जब यह बात सोचने लगा तो

वह ढीला पड़ गया। अच्छा तैराक होते हुए भी अगर कोई उसे बाहर से रस्सी डालकर निकालने वाला न होता तो वह शिथिल (नर्वस) हो गया होता।

अज्ञान की निर्भयता डरपोक के डर से अधिक भयंकर है।

सुशीला किसी से नहीं डरती थी। एक दिन माचीस जलाते समय पूरी माचिस सुलग गई और उसकी उंगलियाँ जल गई। अज्ञान की निर्भयता टल गई और सज्ञान का भय उसमें जम गया। मुझे लगा कि यह अच्छा हुआ। आदमी को डरना चाहिए।

कमला नंगे पैरों आधी रात को मोगरे के फूल बीनने जाती थी। कहती थी : 'मैं किसी से नहीं डरती।' अगर किसी दिन उसे मोगरे के पास बैठा साँप दिख जाएगा, या पत्तों पर बैठा बिच्छू डंक मार देगा तो फिर लकड़ी और बत्ती लेकर भी मोगरे के पास जाना छोड़ देगी। अज्ञान के कारण निर्भय बने लोग ज्ञान होते ही परले सिरे जा पहुँचते हैं और दुगने डरपोक बन जाते हैं।

ज्ञान के कारण डरपोक बना दामु अब भलीभाँति निर्भय हो जाएगा, आइंदा वह रस्सी डालकर ही किसी को बचाने के लिए कुएँ में कूदेगा।

भय एक प्रेरणा है और यह जीवन की रक्षा के लिए है। शेर को देखते ही गाय भाग जाती है तो इसमें गाय कायर नहीं है। उसको भागना ही चाहिए। हाँ, अगर वह बिल्ली को देखकर भागती है तो बेशक कायर है। सामने से आने वाली मोटर को देखकर हटे बगैर अगर मैं खड़ा रहूँगा तो मैं निर्भय नहीं वरन मूर्ख हूँ; या तो मुझे मेरी जिंदगी की कीमत मालूम नहीं, या फिर मैं आत्महत्या करना चाहता हूँ। अब यह बात कैसे कही जाए, कि आत्महत्या करने वाला व्यक्ति निर्भय है! जब मैं दौड़ती हुई मोटर के मार्ग से हट जाता हूँ और अपने-आपको बचाता हूँ तो मैं डरपोक नहीं। इसी भाँति दो मोटरों के बीच आ जाने वाले आदमी को बचाने के लिए अगर मैं अपने प्राणों को संकट में डालता हूँ तब भी मैं कायर नहीं।

जिंदगी को जोखिम में डालना हर हालत में निर्भयता का लक्षण नहीं होता; जिंदगी को बचाना हर हालत में डरपोक का लक्षण नहीं होता।

❑

हमें डरना सीखना चाहिए और बालक को भी सिखाना चाहिए। डरने का अर्थ घबराना या भयभीत होना नहीं; डरना अर्थात् सँभाल रखना सीखना, प्रत्युत्पन्न-मति और सावधानी रखना सीखना; गलत रीति से डरना नहीं सीखना, बिना समझे डर से मरना न सीखना; मात्र अज्ञान से या बहम से घबरा जाना न सीखना।

हमारे गाँव का एक सिपाही श्मशान के समीप राउंड मार रहा था। उसकी गश्त से एक गिद्ध उड़ा और बेचारा सिपाही अज्ञान के कारण अंधेरी रात में ढेर हो गया। किसी ने उसे कहा था कि श्मशान में भूत हैं, जबकि वहाँ ऐसा कुछ था भी नहीं।

न डरने के शिक्षण में पहली चीज है न डराना। अर्थात् अल्पायु में बहम और भयप्रद कहानियाँ नहीं कहनी चाहिए। नहीं कहनी अर्थात् हर्गिज नहीं कहनी; किसी से भी न सुनने देनी; न ऐसी पुस्तकें हाथ आने देनी; उन चित्रों, सिनेमा, वैसे तमाम प्रसंगों और विशेष रूप से वैसी बातों में आनंद लेने वाले निकम्मे गप्पियों से दूर रखना।

पागल कुत्ता, साँप, बाघ, चीता, चोर आदि के नाम सुनते ही बच्चे-बड़े डर जाते हैं। ये सभी नुकसान पहुँचाते हैं, कई बार प्राणलेवा बन जाते हैं। बालकों को यह सिखाया जाना चाहिए कि इनका सामना कैसे किया जाए; अर्थात् ये कितने भयंकर हैं, किस तरह इनसे दूर रहें, ऊपर आ पड़े तो किस तरह बचें—ये बातें बालकों को बताई जाएँ। इसी में निर्भयता का शिक्षण है।

बालकों को यह बात भलीभाँति बतानी चाहिए कि किन-किन से डरना चाहिए; इनके क्या-क्या कारण हैं यह बताना और इनसे बचने का रास्ता बताना चाहिए। जिनके कोई कारण न हों, उनसे जो कार्य ही घटित न हों और इसीलिए जिनसे बचने न बचने का सवाल ही न हो, ऐसी वस्तुएँ बालकों के पास नहीं लानी चाहिए; और अगर आ जाएँ तो तर्क-बुद्धि से उन्हें यह समझाया जाए कि इनका अस्तित्व ही नहीं है।

हाल ही में मैंने कहानी पढ़ी थी, जो भूतिया घर की थी। एक भुतहे घर में भूत रहते थे। उसमें कोई आदमी रात भर भी नहीं रह सकता था। एक हिम्मती आदमी अपने नोकर और कुत्ते के साथ उस मकान में रहने के लिए

गया। उस आदमी के अनुभवों को मैं जैसे-जैसे पढ़ता गया वैसे-वैसे मेरे रोम-रोम खड़े होते गए, और रात में सोते समय मैं स्वयं उन घटनाओं से बार-बार रोमांचित होता गया।

वह बहादुर आदमी हथियार लिए रातभर वहाँ बैठा रहा। ऐसे भयंकर दृश्य उसकी आँखों के सामने आए (इस समय लिखते हुए भी मैं रोमांचित हो रहा हूँ) कि नोकर भयभीत होकर भाग गया और पागल-सा हो गया। उसके डरे हुए कुत्ते को तो भूतों ने मार ही डाला। भुतहे भवन में उस निर्भीक आदमी ने अपने आप कुर्सियों को चलते देखा; चढ़ते-उतरते आदमियों के पैरों की आवाजें सुनीं। बालक को देखे बिना ही उसने बालक के पैर धूल पर पड़ते अपनी आँखों से देखे; बिना किसी आदमी के या किसी हाथ के उसने अपनी टेबल से घड़ी को उठकर गायब होते देखा; और घायल पड़े मुर्दे जैसे, साँप के जैसी आँखों वाले एक आदमी को देखा। वातावरण का ऐसा प्रभाव था कि वह खुद कुर्सी से उठ नहीं सकता था—ऐसा पराधीन हो गया था। फिर भी वह अपने हाथ में कटार और रिवाल्वर पकड़े देख रहा था कि क्या-कुछ घटित हो रहा था; और बिना किसी चिंता या भय के बीच-बीच में 'मेकॉले' पढ़ रहा था। दीये बुझ गए, तपने की सिगड़ी ठंडी हो गई, भयंकर अँधेरा हो गया; और इस अँधेरे में साधारण आदमी—कायर आदमी ठंडा हो जाए, ऐसा कुछ उसे देखने को मिला। फिर भी वह देखता रहा और रात भर उस भयंकर घर में रहने के बाद बिना चोट या आघात के जीवित बाहर निकल आया।

इसका कारण यही था कि उसने पहले ही यह निश्चय कर लिया था कि अगर डर जाऊँगा तो मर जाऊँगा। ऐसा संकल्प करने के पीछे उसकी निर्मल एवं वैज्ञानिक बुद्धि थी। उसका तर्क था कि हिलने-डौलने या किसी कृति के पीछे अवश्य कोई एजेंसी होनी चाहिए। अतएव यहाँ जो कुछ दिखाई दे रहा है उसके पीछे भी कोई न कोई हाथ होना चाहिए, कोई दैवी हाथ नहीं अपितु मानुषी। अपनी इस दृढ़ बौद्धिक मान्यता के कारण ही वह यह सब देख सका, बिना भय खाये। आखिरकार उसने ढूँढ़ निकाला कि वह कौनसी एजेंसी थी। उन तमाम कृत्यों के पीछे योगबल वाला एक दुष्ट आदमी था।

अगर उसकी बुद्धि वैज्ञानिक नहीं होती तो उन असाधारण दृश्यों को देखकर वह मर ही गया होता।

इन्द्रियों से जिसका अनुभव नहीं किया जा सकता उसे न मानना चाहिए और जो इन्द्रियों से अनुभव हो रहा है उसके पीछे मानवी शक्ति होनी चाहिए, ऐसी ही मान्यता निर्भयता की शिक्षा है। ऐसी निर्भयता की शिक्षा इन्द्रियातीत अनुभवों के विषय में भी निर्भय रहने का मार्ग प्रशस्त करती है।

❑

दामु मुझे पूछने लगा : 'इसकी क्या वजह होगी? मैं अँधेरे में अकेला कहीं जाता हूँ तो डरता नहीं; और बत्ती लेकर जाता हूँ तो बत्ती से जितने भाग में रोशनी पड़ती है, उतने भाग में नहीं डरता, लेकिन अँधेरे भाग में डरता हूँ। क्या कारण है?'

बचु बोला : 'मेरा मामला इससे उल्टा है। बत्ती लेकर जाता हूँ तो नहीं डरता, पर बिना बत्ती के डरने लगता हूँ।'

मुझे लगता है कि दोनों का अनुभव सच्चा है। दामु की भाषा में बोलूँ तो (दामु सही विवेचन करता लगता है क्योंकि वह ज्यादा पढ़ा हुआ नहीं है और मनोविज्ञान की परिभाषा से कहें तो अभिभूत या घुटन-भरा नहीं है।) 'मैं इसलिए नहीं डरता क्योंकि बत्ती होती है तो मुझे ऐसा लगता है कि जितने भाग में उजाला है उतने भाग में तो डरने जैसी बात नहीं है। साथ ही मुझे ऐसा लगता है कि जहाँ अँधेरा है वहाँ से कोई आएगा। लेकिन जब मैं बिना बत्ती अँधेरे में निकलता हूँ तो सर्वत्र अँधेरा होने के कारण डर नहीं लगता, क्योंकि चारों तरफ मुझे एक-सा लगता है कि नजदीक अँधेरे में जब कुछ नहीं है तो दूर के अँधेरे में भी कुछ नहीं होगा, ऐसा मैं मानता हूँ।'

यह मानसिक व्यापार (फेनोमेना) अटपटा लगता है। पर इस पर सोचा जा सकता है। दामु को बचपन से ही अँधेरे में जाने की आदत है अतः उसके सामने अँधेरे में निर्भयता है। शिक्षण द्वारा उसने सीखा है कि बत्ती से सुरक्षितता रहती है, बस तभी से उजाले-रहित भाग में वह डरता है। जब तक उसे अज्ञान था तब तक उसे अँधेरे का भय नहीं था; लेकिन थोड़ी-सी रोशनी हुई कि तत्काल अँधेरा अलग हो गया और अज्ञान का भय लगने लगा। रोशनी अधूरी होने के कारण ही उसे अँधेरे में डर दिखा। निर्भयता या तो पूर्ण अँधेरे में अर्थात् अज्ञान में है, या फिर पूर्ण प्रकाश में अर्थात् ज्ञान में है, यद्यपि दोनों की कीमत अलग ही है।

अब बचु की बात लें। बचु ने शिक्षण द्वारा जाना है कि उजाला लेकर जाने पर जो होता है सो दिख जाता है। उसकी निर्भयता ज्ञान पर आश्रित है। उसे ऐसा विश्वास है कि बत्ती की रोशनी में भय नहीं है। इसलिए अब अगर वह अँधेरे में भी जाएगा तो उसे डर नहीं लगेगा, ऐसा उसे भरोसा है। यह है बचु के निर्भय मन का विवेचन।

बचु इसलिए बत्ती साथ लेता है ताकि डरने जैसा कुछ हो तो उसे उजाले में जाना जा सके। अर्थात् जिससे डरना चाहिए या जिससे सावधान रहना चाहिए उसे प्रकाश द्वारा जाना जा सकेगा तथा उससे बचने हेतु उपाय किया जा सकेगा। ऐसी मान्यता में उसकी निर्भयता है। और इसीलिए उसका अँधेरे का भय बत्ती से दूर होता है। दामु जिस तरह सोचता है वैसे अँधेरे में भय ही है और उससे कुछ न कुछ निकलेगा, ऐसी मान्यता से बचु नहीं चलता। इसका कारण यह है कि बचु को अँधेरे का डर नहीं लगाया गया अपितु उजाले का उपयोग बताया गया था; जबकि दामु आदतवश अँधेरें में न डरना और बातें सुनकर जहाँ-तहाँ डरना सीखा हुआ है।

❑

मैं एक और सर्व-सामान्य अनुभव का उल्लेख करना चाहता हूँ। इसे लेकर मैं चर्चा नहीं करूँगा अपितु चर्चा को आमंत्रित करूँगा।

जिस कमरे में हम सोते हैं, उसके अलावा बाकी के कमरों को हम बंद क्यों करते हैं ? सोते समय अपने कमरे में रोशनी क्यों रखते हैं ? जिन कमरों को हम काम में नहीं लाते, उनमें बत्ती लिए बिना जाते हुए डर क्यों लगता है ? कल रात जिस कमरे में हम सोये थे, उसी में अँधेरे की वजह से हमें जाने में संकोच क्यों होता है ?

क्या अँधेरा स्वाभाविक (Instinctive) भय है ?

❑

डर के बारे में इतना लंबा लिखने की क्या वजह है ? कहीं मैं मेरे भीतर विद्यमान भय को निकाल बाहर करने का प्रयोग तो नहीं कर रहा ? लगता है यही सच है। यह बात प्रमाणित हुई है कि मैं अभी तक डर सकता हूँ।

हाल ही में मैंने सर केनन डोयल की पुस्तक 'Hounds of the Baskerville' पढ़ी थी। दो रातों से उक्त पुस्तक वाले कुत्तों के चेहरे कल्पना में आकर मानो मुझे डरा रहे थे। बौद्धिक दृष्टि से मैं डरता नहीं था, फिर भी वॉटसन की तरह चौंक-चौंक जाता था। सच्चा निडर तो मैं शेरलॉक होम्स को मानता हूँ। जो लोग अपने आपको निर्भय मानते हैं, जरा वे उपर्युक्त कहानी पढ़ें तो सही। 'ओह, इसमें क्या रखा है ?' यों कहते हुए पढ़ने से इन्कार करने वाले कायर हैं, ऐसा मान लें। यह बात यहीं बंद करता हूँ। मेरा हेतु पूरा हुआ। प्रत्येक आलेख आत्मलक्षी होता है। मैं जो लिख रहा हूँ, वह दूसरों के पढ़ने के लिए लिख रहा हूँ, यह तो बाद का और परलक्षी विचार है।

❑

कई बार चश्मा उतार कर मुँह धोने के बाद अपना ही उतार कर रखा हुआ चश्मा मुझे हाथ नहीं आता। मैं चश्मा रखी जगह को ही भूल जाता हूँ सच ? मनोविश्लेषक कहते हैं कि आदमी इरादतन भूल जाता है। भला चश्मे की जगह को भूलने में मेरा क्या इरादा होगा ? खोजने पर भी मुझे भूल जाने का इरादा हाथ नहीं लगता। चश्मा तो मुझे तत्काल मिलना चाहिए, यह जानने वाला मैं ऐसा इरादा भला कैसे रख सकता हूँ कि चश्मा हाथ ही न आए। मनोविश्लेषकों का यह एकमात्र अर्थ मुझे मान्य नहीं।

रुचि न हो तो भी आदमी भूल जाता है। पर मुझे तो चश्मे में रुचि थी ही, होगी ही। यही नहीं, जरूरत भी थी। जरूरत के पीछे मात्र सिद्धांत नहीं अपितु सचमुच रुचि थी। फिर भी चश्मा मुझे हाथ नहीं लगा। सामान्य भाषा में चश्मा मैंने कहाँ रखा था, यह बात भूल गया था।

लगता है भूलने के पीछे मेरे मन में चश्मे को कहीं सुरक्षित स्थान पर रखने का भाव था। मैं उसे इतना संभालकर गुप्त स्थान पर रखता हूँ कि जहाँ सामान्यतया दूसरों की चपेट में आकर टूट न जाए, और तब चश्मे को रखकर निश्चिंत हो जाता हूँ। इस निश्चिंतता की वजह से ही वह बात बनती है जिसे मैं भूल जाना कहता हूँ।

❑

भूलने को लेकर एक और अनुभव है। चिमनलाल मेरी पसंद की एक सुंदर किताब माँगने मेरे पास आया। मैंने उसे कहा : 'वह किताब मैंने किसी को पढ़ने दे रखी है, पर याद नहीं किसे दी है।' याद करने की बहुत कोशिश की, पर आखिर में चिमनलाल को हताश लौटाना पड़ा।

थोड़ी ही देर में मैं बोल उठा : 'अरे हाँ, वह तो मैंने किसी को दी ही नहीं। हाँ, चंद्रशंकर को देने की सोची थी।' चिमनलाल को निराश करने का मुझे बहुत अफसोस हुआ। मैंने सोचा : 'यह कैसे हुआ? विस्मृति कैसे हुई? जरा ईमानदारी से खुद को टटोलने की कोशिश करता हूँ। क्या मैं चिमनलाल को किताब देना नहीं चाहता था? क्या मैं उसे किताबें नहीं देता? नहीं, वैसे तो उसे कई बार किताबें देता हूँ। चिमनलाल मेरा मित्र है। तब यह कैसे हुआ?'

मैं अंतर्मन में उतरता हूँ। मुझे ख्याल आया 'हुंऽ, चंद्रशंकर को किताब देने की मैंने सोची ही थी, दी नहीं थी। कदाचित आठ दिनों तक चंद्रशंकर को किताब न भेजता पर मैंने ऐसा कहा था कि किताब तो दे दी और किसे दी है, यह याद भी नहीं। ऐसा कहने का कारण यह था कि मुझे पुस्तक चंद्रशंकर के लिए रखनी थी, चिमनलाल के बजाय। मैं किसी का नाम नहीं लेता और कहता कि पुस्तक किसी को दे दी है, तब भी यही बात होती। नाम लेता तो ऐसे किसी को किताब दी ही नहीं थी और अगर ऐसे कहता कि घर में रखी है तो चिमनलाल के लिए निकाल कर देनी पड़ती। दो मित्रों के बीच पक्षपात करने के लिए मुझे 'मैं तो देकर भूल गया' की मदद लेनी पड़ी।

लिखते-लिखते मेरे मित्र ने पूछा : 'ऐसा संभव नहीं था कि चिमनलाल को पुस्तक देने का सच्चा मन हो और दूसरी तरफ चंद्रशंकर को सचमुच दे दी हो और अब याद नहीं आ रहा हो?' ऐसा संभव है। चंद्रशंकर को जबरदस्ती पुस्तक देनी पड़ी हो और उसके बदले किसी दूसरे का नाम न होने से किसको दी थी, यह याद ही नहीं है—इस तरह कहा जा सकता है।

❑

भगवान जी जब मुझे दवा पीने की बात याद दिलाने आए तो मैं सोचने लगा : 'मैं दवा पीना भूल जाता हूँ इसलिए उन्हें याददेही करनी पड़ी। मैं स्वस्थ होना चाहता था। दवा की जरूरत स्वीकार करता था और पीना भी चाहता

था। दवा नहीं पीऊँगा तो मैं जानता था कि भगवानजी पिलाए बिना नहीं रहने वाले।'

मुझे दवा पीनी अच्छी नहीं लगती इसलिए मैं दवा पीना भूल जाता था, ऐसी बात नहीं थी। अर्थात् दवा से मुझे ऊब होती थी या कि मुझे दवा पीने में रुचि नहीं थी, इस कारण से मैं दवा पीना नहीं भूलता था। लेकिन दवा नहीं पीऊँगा तो भगवानजी मुझे दवा पिलाने आएँगे ही, इस विश्वास के कारण मैं दवा पीना भूल जाता था। अर्थात् दवा पीना भगवानजी पर छोड़ रखा था, इस कारण मैं भूल जाता था। हमारा अपना काम, जो हमें ही करना होता है, जब उसे दूसरों पर विश्वास से छोड़ दिया जाता है तो हम उस काम को करना भूलते नहीं, लेकिन इस विश्वास से कि वह काम दूसरे हमसे करायेंगे, हम उसे एक तरफ रख देते हैं।

पर छोटे बच्चे तो दवा पीना याद ही नहीं रखते। वे खेलने में या पढ़ने में भूल जाते हैं क्योंकि दवा पीना उन्हें अच्छा नहीं लगता। दवा अच्छी नहीं लगने के कारण छोटे बच्चों में भूल जाने की प्रवृत्ति होती है। ऐसा अनुभव होने के कारण माता-पिता बालकों को दवा पिलाना याद दिलाते हैं अर्थात् वे खुद बच्चों को दवा पिलाने का समय भूलते नहीं।

देखने में आया है कि मीठी दवा पीना बच्चे भूलते नहीं, अपितु समय से पहले याद रखकर दवा माँग लेते हैं। ऐसी दशा में बाल-स्वभाव के सामान्य ज्ञान को देखते हुए माता-पिता दवा के साथ गोली खिलाने की तजवीज क्यों नहीं सोचते?

ऐसे लोग भी देखने में आते हैं जो रोग की भयंकरता को जानते हुए भी दवा पीना भूल जाते हैं और दवा पीए बिना रह जाते हैं। वे जानते हैं कि दवा पीने में फायदा है, फिर भी वे दवा पीना भूल जाते हैं। उनका इरादा ऐसा लगता नहीं कि जाहिरा तौर पर दवा न पीकर बीमार पड़े रहें फिर भी दवा पीने की विस्मृति के पीछे दवा पीने की रुचि समाप्त हो गई हो, ऐसी बात नहीं है, लेकिन हाँ, स्वस्थ होने अर्थात् जीने की खुशी समाप्त हो गई लगती है। ऐसे ही रोगी की मनोवृत्ति के दूसरे पहलू में जो मनोवृत्ति है वह यह है कि वे याद रख-रखकर यथासमय दवा पीते हैं। जीवन से और दवा से मन उखड़ जाने के कारण, दवा पीना याद नहीं रहता, ऐसा पक्का भरोसा हो जाने से वे ध्यान रखकर दवा पीते हैं। सावधानी से याद रखना विस्मृति का दूसरा पहलू है।

❑

जब मालिक नोकर से बार-बार याददेही के लिए कहता है : देखना! कल अमुक सज्जन आने वाले हैं, स्टेशन जाना कहीं भूल न जाना।' तो जाहिर है मालिक आगंतुक को कम महत्त्व देना चाहता है या उसका अनादर करना चाहता है, उसका स्वागत नहीं करना चाहता। उसे लगा कि कल तक उसे उसका अप्रिय आगमन याद नहीं रहेगा, इसीलिए वह नोकर को जोर देकर याद दिलाने को कहता है। सच तो यह है कि ऐसा कहकर वह खुद को ही याद दिलाने की बात कहता है, स्मरण रखने की कहता है, क्योंकि उसे याद रखना मुश्किल है। इसका कारण है आगंतुक को लेकर नापसंदगी।

अखरा कर दिया गया किसी का संदेश देना हम भूल जाते हैं। इसका क्या कारण है ? जब कारण ढूँढ़ते हैं तो हँसी आती है। संदेश देने वाला हमें पसंद नहीं है।

दामु मुंबई जाते समय भावनगर से दर्जन भर संदेश साथ ले जाता है। स्टेशन पर वह जीतू से बात कहता है : 'लोग समझते ही नहीं कि मैं इतने सारे संदेश देने के लिए खाली कहाँ हूँ। उन में भी देवशंकर ने तो अकेले सात संदेश दिए हैं। लोगों को संदेश भेजने की समझ कब आएगी ?'

कौन मानेगा कि दामु वे संदेश पहुँचा देगा ? मुंबई जाने से पहले संदशों का सही-सही विवरण वह भूल जाएगा। संदेशों की बातें परस्पर उलझ जाएँगी। घर पहुँचते ही वनुभाई से वह कहेगा : 'उन मूर्ख लोगों के संदेश तो मैं भूल गया। अगर लिख लेता तो ठीक था।'

दामु संदेश-समाचारों को भुला देना ही चाहता था। इस बात का संकेत उसने स्टेशन पर ही दे दिया था। इसका कारण था संदेश देने वाले की सामान्य-बुद्धि को पसंद न करना। और इसीलिए वह आदमी उसे अच्छा नहीं लगा था।

दामु थोड़ा-बहुत विवेचन-बुद्धि का है। कई बार वह हँसी-हँसी में संदेश देने वालों को कह भी देता है : 'आपको समाचार देना हो तो दे दीजिए पर मैं तो भूल जाता हूँ।'

❑

कई बार संदेश ऐसे होते हैं कि जिन्हें आदमी याद रखना पसंद नहीं करता। कोई युवक अपनी प्रेमिका को संदेश भेजना चाहे और संदेशवाहक यदि उसी स्त्री का उम्मीदवार हो तो भला वह उस संदेश को कैसे सहन करेगा ? जाहिर है वह उसे अप्रिय ही लगेगा, अतः वह भुला देगा।

डाक में डालने को दिया गया कागद भी हम डाक में डालना भूल जाते हैं। कई बार डालना इसलिए भूल जाते हैं कि जिसके नाम पत्र है, उसे हम नहीं चाहते। सोचते हैं कि उसे कागद क्यों लिखा ? या हमें पढ़ाए बिना क्यों लिखा ? या फिर कागद में हमारे विरुद्ध कुछ लिखा होगा। इन कारणों से कागद जेब में ही रह जाता है! चार-पाँच या दस दिनों बाद हम कहते हैं : 'अरे, कागद तो डाक में डालने से रह ही गया।' हम ही कई बार यों कह देते हैं : 'अब बहुत विलंब हो गया। चलो, कागद फाड़ दीजिए।'

❑

कल चन्द्रकांत के नाम तार आया था : 'Come soon. Consultation inevitable.' (जल्दी आओ, सलाह-मशविरा जरूरी है।) तार पढ़ते ही उनके मुँह से पहला उद्गार यह निकला था : 'पैसे ज्यादा दिखते हैं।' ये शब्द मैंने यकायक न सुने होते तो मैं इस किस्से का रहस्य ही नहीं समझा होता। जिस समय चंद्रकांत ने ये शब्द कहे थे, उस समय वह अपने आप से बात कर रहा था। अलबत्ता, वह मन में स्वयं न समझा होगा, इतना स्पष्ट था, पर यह बात मैं तत्काल समझ गया था और मैंने तो निर्णय भी कर लिया था कि चन्द्रकांत मुंबई नहीं जाएगा।

अब जाहिरा तौर पर अपनी इच्छा होते हुए तथा जरूरी समझते हुए भी वह मुंबई क्यों नहीं गया, इस का विचार करें।

पहले उसने मुंबई जाने की सारी तैयारियाँ कर ली। अपनी पत्नी से उसने कहा था : 'मुंबई जाना है। खाना तैयार कर देना। जाना पड़ेगा, टाला नहीं जा सकता।' अगर उसकी पत्नी मनोविज्ञानवेत्ता होती तो उसने 'जाना पड़ेगा' शब्द सुनकर ही खाना बनाना स्थगित कर दिया होता।

अपने नोकर से चन्द्रकांत ने कहा : 'देख, बिस्तर तैयार कर। अपनी घड़ी बराबर मिलाकर रखना, भूलना मत। हमारी घड़ी कई बार दगा दे देती है।

भूलना मत। खास तौर से घड़ी मिलाना मत भूलना।' नोकर कुदरती मनोविज्ञानविद था। वह कुदरतन अपने मालिक की बात समझता था और उस पर अमल करता था।

मालिक ने बराबर घड़ी को देखते हुए सारा काम किया। बीच में एक बार भी गौर नहीं किया कि नोकर ने घड़ी सही मिलाई थी या नहीं। समय पर वह गाड़ी के लिए खाना हुआ और कुछ पलों से ही गाड़ी चूक गया। वह बहुत दुखी हुआ। घर आकर कहने लगा : 'हुआ सो हुआ। अब तार दे दो कि गाड़ी चूक गया। अब आ पाना मुश्किल है। क्षमा करें।' तार देने के बाद उसने नोकर से पूछा : 'अरे, तूने घड़ी मिलाई भी थी या नहीं ? मैंने तुझे अखराकर कहा था कि घड़ी मिला लेना!'

जोर देकर तथा अखरा कर नोकर से कहने के साथ ही मानो उसने गाड़ी चूकना तय कर लिया था। अपने नोकर के भुलक्कड़पन पर विश्वास होने से ही वह गाड़ी चूकने हेतु निर्भय था।

❑

एक बार चर्चा चल रही थी। सुशीला बोली : 'जिस घर से हम निकल जाते हैं उसकी तरफ हमारे पैर भूल से भी नहीं उठते।'

बचु बोला : 'कल ही इससे उल्टी दिशा में मेरी भूल हो गई। मैं भूल ही गया था कि घर बदल गया है।' इस बात को लेकर इन दोनों में फर्क क्यों है, इस पर मैं विचार करने लगा।

सुशीला को पिछला घर भूलने में कोई मनोवैज्ञानिक कारण नहीं है। अलबत्ता ये कारण हो सकते हैं, यथा—पिछला घर अच्छा न लगना, वहाँ कोई अप्रिय घटना घटित होना आदि-आदि। बचु को पिछला मकान खास पसंद आने की कोई वजह नहीं है। मेरी अपनी आदत भी पहले वाले मकान की तरफ कभी भूल से भी न जाने की है। मुझे पुराने घर में रुचि नहीं रही, इस वजह से मेरे पैर उधर नहीं उठते, ऐसा नहीं है। बचु के साथ भी ऐसी कोई बात नहीं है कि उसे उस मकान से कोई लगाव रहा है, इस कारण उसके पैर उठ जाते हैं। यह किस्सा रुचि-अरुचि के कारण याद रहने या भूल जाने से संबंधित नहीं है। कदाचित यह गतिशील (Dynamic) और स्थितिनिष्ठ क्रिया-शक्ति (Static will) का है।

सुशीला की और मेरी क्रिया-शक्ति स्थिति-निष्ठ है, जबकि बचु की क्रियाशक्ति गतिमान है। हम एकबार समझ गए कि अब उस घर की तरफ नहीं जाना इसलिए हमारी क्रियाशक्ति उस तरफ नहीं जाती, जबकि बचु की जाती है।

❑

मस्तिष्क विद्या के एक ज्ञाता ने मुझे कहा : 'तुम्हारे मस्तिष्क में मुखाकृति-स्मृति और स्थल-स्मृति (अर्थात् face memory and place memory) का स्थान नहीं है।' मस्तिष्क विद्या में मेरा भरोसा नहीं है पर उसका यह कथन बहुत सही लगा।

मैं महानगरों में एकदम भटक जाता हूँ, क्योंकि देखे हुए रास्ते भी भूल जाता हूँ। चेहरे तो मैं इस हद तक भूल जाता हूँ कि जब मैं किसी से कहता हूँ कि मैं तो आपको जानता ही नहीं, तो वे अचंभे से मेरी ओर देखने लगते हैं और मेरे कथन पर विश्वास ही नहीं करते। उन्हें लगता है मैं उन्हें बनाता हूँ अथवा उन्हें बताना नहीं चाहता कि मैं उन्हें पहचानता हूँ। पर सचाई यह है कि मैं मुखाकृति विस्मृतिशील हूँ। जरूर मुझे इसका कारण ढूँढ़ना चाहिए।

बहुधा मुझे भय लगता है कि अगर पाँच बरसों के बाद मेरा भाई भी मुझे एकाएक किसी अनिश्चित स्थान पर मिले तो मैं उसके सामने-सामने देखता रहूँगा और कहूँगा कि 'लगता है तुम्हें कहीं देखा है।' अकारण ही ऐसे किसी को देखने के उदाहरण तो हमेशा ही बनते हैं। भला क्यों होता है ऐसे ? मुझे लगता है कि मनुष्यों के चेहरों को लेकर मैं वस्तुपरक होने (objective) की बजाय आत्मपरक (subjective) अधिक हूँ। अर्थात् मैं उनके चेहरों को याद रखने के लिए जरा भी नहीं ललचाता। जबकि उनके साथ हुई बातचीत, बातचीत की जगह, बातचीत का सूक्ष्मतम ब्यौरा मैं नहीं भूलता। भुलावे में पड़े चेहरे वाला आदमी अगर एक बार पहचान गया तो मैं उसके बारे में सारी बातें बता सकता हूँ। शायद दुनिया को देखने की मेरी दृष्टि दार्शनिक मूल्य (face value) ग्रहण करने की बजाय आंतरिक मूल्य (inner value) ग्रहण करने की अधिक हो। हाँ, इतना अवश्य कहूँगा कि अगर मुझे अपने काम को आगे बढ़ाने के लिए कुछ चेहरों को याद रखने की जरूरत पड़ती तो निश्चित रूप से मुझे वे याद रहते। अर्थात् अगर मैं व्यापारी, राजनीतिज्ञ या चित्रकार जैसा होता तो अलग ही बनता। पर मैं ठहरा अध्यापक।

बच्चों के चेहरों की बजाय मेरा उनके मन-मस्तिष्क से संबंध रहता है। पढ़ाते समय मैं उनके दिमाग की तरफ देखता हूँ न कि उनके चेहरों की ओर। चेहरों और स्मृति-विस्मृति के बारे में मुझे इतना ही कहना है।

❑

चेहरों के साथ ही नाम भूलने की प्रवृत्ति भी सचमुच देखने में आती है। जिसका नाम आपको अच्छा नहीं लगता, उसे आप भूल जाते हैं।

मेरा अनुमान है कि 'प' से शुरू होने वाले नाम का आदमी मुझे अच्छा नहीं लगता, जैसे प्राणजीवन। इस वजह से प्राणजीवन नाम मुझे आसानी से याद नहीं आता, यही नहीं प्राणशंकर, प्राणकुंवर, प्राणलाल आदि नाम भी याद नहीं रहते। चिट्ठियों पर पते लिखते समय मैं कहता हूँ : 'मन में है पर होठों पर नाम क्यों नहीं आता ?' सचाई तो यह है कि मन में भी नहीं है तो होठों पर कैसे आएगा !

जिस आदमी के साथ कभी आपका झगड़ा हो जाता है, उस नाम वाले सभी लोग बहुधा अच्छे नहीं लगते और उनके नाम याद रह पाना मुश्किल हो जाता है। एक चेहरा पसंद न हो तो ऐसा नहीं होता कि दूसरे पाँच-पचीस चेहरे भी पसंद न आएँ। इसका कारण यह है कि चेहरे इतने ज्यादा समानता लिये हुए नहीं होते। पर एक नाम वाले कई लोग होते हैं अतः विचार-साहचर्य (Law of association) की वजह से नामों पर प्रभाव पड़ता है।

नाम-विस्मृति से संबंधित आज सुबह का ही उदाहरण है। मुझे अपनी एक छात्रा लक्ष्मी के पति का नाम चाहिए था। मैं उनसे बार-बार पत्राचार करता हूँ। वे मुझसे मिल चुके हैं और हमारे बीच परस्पर सद्भाव है। फिर भी मुझे बहुत जोर देने पर भी उनका नाम याद नहीं आ रहा था। आखिरकार मैंने ऑफिस से रजिस्टर मँगाया। पर अनुक्रमणिका में मैं किस अक्षर से ढूँढूँ, ऐसी पशोपेश में पड़ गया। आखिर 'क' से पन्ने पलटने लगा और 'द' में जाकर 'देवकृष्ण' नाम मिला। मैं सोचने लगा : 'बहुत आसान नाम है देवकृष्ण का, रोजाना बोलचाल में आता है, फिर भी मैं इसे क्यों भूल गया ?'

बहुत सोचने पर सुराग हाथ लगा कि हमारे पिता हमारे गाँव वाले भानुशंकर को धिक्कारते थे और उनके भाई का नाम था देवकृष्ण। जब छोटे थे तब हम नदी पर नहाने जाते थे, वहाँ जब देवकृष्ण को नदी में खड़े-खड़े सूर्य का

अर्घ्य देते देखते तो पिता के मन के साथ जुड़कर मन ही मन खीज उठते। 'हं....वह देवकृष्ण! भानुशंकर का भाई।' मानसिक प्रदेश का काम कैसा अद्भुत है। कहाँ तो भानुशंकर का भाई देवकृष्ण और कहाँ लक्ष्मी का पति देवकृष्ण ? कइयों के नाम तिरस्कार अथवा घृणा के कारण हम भूल जाते हैं।

पर विद्यार्थियों को नदी के ऊपर वाले गाँवों के नाम याद नहीं रहते। इस मामले में नदी का दोष नहीं अपितु भूगोल का दोष है। विद्यार्थियों को भूगोल न पढ़नी हो और पढ़नी पड़ जाए तो वह तिरस्कार गाँवों के नामों से जा टकराता है। यह भी संभव है कि पढ़ाने वाला मास्टर पसंद न आए, इस वजह से भूगोल याद न रहे। मास्टर का तो कोई क्या बिगाड़े ? मन में दो गालियाँ दे लो, इससे अधिक क्या ? तब सारा गुस्सा भूगोल पर जाकर उतरता है।

❑

पाठ याद न रहने के भी कई कारण होते हैं। विषय में रुचि न होना तो बहुत आम कारण है ही, और भी कई कारण हैं। विषय में रुचि हो लेकिन अगर मास्टर नापसंद हो तो विषय याद नहीं रहेगा। एक बालिका से उसके पिता ने पूछा : 'तुझे संगीत की एक भी चीज याद क्यों नहीं रहती ? क्या तेरे शिक्षक पढ़ाते नहीं ?' बालिका ने कहा : 'मेरे मास्टर जी का मुँह कोचरी (उल्लू की जाति का पक्षी) जैसा है। मुझे अच्छा नहीं लगता।' यहाँ शिक्षक अच्छा नहीं लगता अतः विषय अच्छा नहीं लगा।

कई बार बालकों को पाठ इसलिए याद रहता, क्योंकि मास्टर जाना-पहचाना होता है। ट्यूशन कराने से पाठ याद रहता है, इसके बजाय मास्टर के साथ जान-पहचान हो जाने के कारण बालकों को पाठ याद रहता है, क्या यह बात विचारणीय नहीं लगती ? ट्यूशन करने वाला अध्यापक बालकों को बहुत पढ़ाता हो, ऐसा नहीं लगता।

जबरदस्ती बालक को विद्यालय भेजा जा जाएगा तो बालक को उस दिन का पाठ स्मृति में नहीं रहेगा। जिस बालक पर अकारण ही शिक्षक गुस्सा करेगा, उसे भी पाठ याद नहीं रहेगा। खुद को नहीं अपितु दूसरों को अगर शिक्षक मारता हो, तो उसे देखकर बालक के मन से वह शिक्षक उतर जाता है अथवा जो शिक्षक से डर जाता है कि उसे पाठ याद नहीं रहता। विद्यालय से बाहर कोई

जुलूस जा रहा हो और शिक्षक कक्षा में पढ़ा रहा हो तो बाहर जाने का मन रहता है। ऐसे में शिक्षक इनकार कर दे तो बालक की स्मृति बहरी हो जाती है।

बालक को पाठ याद नहीं रहता तो इसका एक ही कारण नहीं होता कि बालक ठोठ है अथवा उसकी याददाश्त सही नहीं है; अपितु पाठ भूल जाने के उपर्युक्त अनेक कारण होते हैं।

❑

इस विषय पर कई विचार उभरते हैं, पर मेरा मन एक बार फिर से नील की ओर दौड़ता है। अभी मैं Dominie's Five पुस्तक से गुजराती भाषा में 'रखडुं टोळी' भाग दो उठा रहा हूँ। नील एक बार फिर से विचार-मंथन कर रहा है। उसके बारे में थोड़ा-बहुत कहने का मन है पर जरा धुन (मूड) में आऊँगा, तब कहूँगा। कहा जाता है कि लेखक और कवि जब धुन में होते हैं तब बहुत बढ़िया लिखते हैं। कवियों को तो धुन की अधिक जरूरत पड़ती है। मैं अभी कवि तो हूँ नहीं, इसलिए अगर मुझे थोड़ी ही धुन आएगी, तो चलेगा।

आजकल तो धुन को भी धुन में रहने की जरूरत पड़ती है। पर लेख व पुस्तकें छपाने वाले और छापेखाने हमारी धुन की इंतजार नहीं करते। इस जमाने में धुन को भी व्यापारी की तरह फटाफट निबटाना सीखना चाहिए। (Mood ought to be business-like.) नदी तट पर, उपवन में अथवा पर्वत शिखर पर वहाँ के एकांत भव्य सौंदर्य में ओतप्रोत होकर एकाध कविता अथवा लेख लिखने का युग बीत गया। अब तो दौड़ते घोड़े पर जो लिख दिया सो लिख दिया। धुन को भी अब थोड़ा-सा घोड़े की सवारी करना सीखना होगा।

❑

लिखने बैठा हूँ और रात की एक बजी है। लिखते-लिखते खयाल आता है कि लेखन का समय बताने की क्या जरूरत थी? क्या मैं अपने पाठकों पर यह प्रभाव डालना चाहता हूँ कि मैं कितना उद्योगी लेखक हूँ? क्या मैं यह मानकर चलता हूँ कि मेरे लेख की मूल्यवत्ता समय बताने से बढ़ जाएगी?

कई पत्र-लेखक अपने पत्र में समय दर्ज करते पढ़ने-देखने में आते हैं। यह समय ज्यादातर रात को बारह बजे के बाद का होता है। युवा लेखक अपने मित्र को

अथवा अपनी प्रियतमा को उनकी विरह-दशा कैसी है, यह बताने के लिए समय का उल्लेख करते हैं। कई होशियार लोग पत्र की हकीकत कितने महत्त्व की अथवा जल्दी की है कि आधी रात में उठकर लिखना पड़ा है, यह बताने के लिए समय का उल्लेख करते हैं। जबकि कई लोग यह जताने के लिए समय का उल्लेख करते हैं कि पत्र लिखने के लिए दिन में अथवा रात के प्रथम प्रहर में उन्हें समय नहीं मिल पाता। कविगण यह बताने के लिए कि किन भिन्न-भिन्न क्षणों में उनका काव्य-स्फुरित होता है, वे काव्य-रचना का समय दर्ज करते हैं। अलबत्ता, मनोविज्ञानवेत्ता कवियों की धुन (moods) आसानी से समझ सके, कहीं इसलिए तो समय का उल्लेख नहीं करते। मेरा अनुभव है कि पत्र में या काव्य में उल्लिखित समय शायद ही वाचकों पर प्रभाव डालता होगा या कि उनका अपनी ओर ध्यान खींचता होगा। पर मैंने तो समय का उल्लेख करके पाठकों का ध्यान खींचा ही है, क्योंकि इतना कुछ साथ-साथ पढ़ते-पढ़ते उनका ध्यान उसकी तरफ जाना ही चाहिए।

❑

नील की धारणा है कि बालकों को लड़ाई और मारपीट की वारदातें बहुत पसंद आती हैं। इसकी वजह है उनमें विद्यमान दबाई हुई क्रूरता-वृत्ति (repressed sadistic tendency)। प्रत्यक्ष जीवन में इसको कत्तई अवकाश नहीं मिलता अतः वे कहानियों में बहुत रुचि लेते हैं और प्रत्यक्ष जीवन की इच्छा को तृप्त करके उससे मुक्त होते हैं।

नील यह जानता है कि कहानी शिक्षण का कितना बहुमूल्य साधन है अतः वह उसका सुंदर उपयोग करता है। किसी न किसी रीति से बालकों को अपने भीतर विद्यमान वृत्तियों को मार्ग तो देना ही चाहिए। ऐसी हीन वृत्तियों को कहानियों के माध्यम से अगर मार्ग मिलता है, तो यही अभीष्ट है। नील कहता है कि उसने बालकों की वृत्ति को गति दी है, लेकिन मैं कहता हूँ कि कहानी में मारपीट करा कर क्या उसने स्वयं अपनी वृत्ति को गति नहीं दी?

बेचारा नील शरीर से शायद ही सशक्त होगा। मारपीट करने का शायद उसे पिछली लड़ाई में मौका नहीं मिला होगा। बचपन में शायद उसे माता-पिता ने मारपीट करते (एक अच्छे बालक से जिस तरह उम्मीद की जाती है) रोका होगा। परिणामस्वरूप उसने कहानी गढ़कर उसके पात्रों के साथ एकरूप होकर अपना मकसद पूरा किया।

अगर हमारे बाल-साहित्य के एक लेखक मुझे अपने बारे में लिखने की छूट दें तो मैं लिख दूँ कि जो बातें वे लिखते हैं और बंदूकें चलवाते हैं, उनके पीछे कहीं उनकी दबाई हुई क्रूरता-वृत्ति(repressed sadism) तो नहीं ? कहीं वे अपनी शारीरिक अशक्तता की वजह से हीनता ग्रस्त होकर कहानी द्वारा 'श्रेष्ठ' तो नहीं बनना चाहते ?

❑

जिन लोगों ने 'रखडुं टोळी' (डॉमिनीज फाइव) पुस्तक नहीं पढ़ी है, वे ऐसे लेखन-संबंध (नोट्स) से खीझ उठेंगे। भले ही खीझें। वे मुझ पर नहीं, अपने अज्ञान पर ही खीझते हैं।

❑

कोई कहेगा कि एकमात्र नील का ही उल्लेख क्यों आ रहा है ? मोंटेसरी या एडलर या फ्रॉयड का क्यों नहीं आता ? हरभाई त्रिवेदी कहते हैं कि वे फ्रॉयडियन हैं, मैं कहता हूँ कि मैं मोंटेसोरियन हूँ। इसलिए फ्रायड के बारे में लिखने का अधिकार उनका है और मोंटेसरी के बारे में लिखने का अधिकार मेरा है। एडलर हमारी साझी सम्पत्ति है। उस पर हम दोनों लिखेंगे।

❑

बहुत सारे लोग मुझसे पूछते हैं : 'आप गधे को क्यों चाहते हो ? उसके बारे में क्यों लिखते हो ? कहानी में भी उसका उल्लेख क्यों लाते हैं ?'

'मेरी मरजी, तुम्हारा क्या जाता है ?' यह सभ्य उत्तर नहीं है, न अपने आप में पूरा उत्तर है।

मेरे घर के पिछवाड़े गधे बँधते थे और बाल्यावस्था में मैंने उन्हें बार-बार देखा था, इस कारण तो मैं उसका प्रेमी नहीं बना। ऐसा तो मैं कह सकता हूँ। कोई यों भी कह सकता है कि कीटभ्रमर न्याय की वजह से मैं 'गधामय' हो गया होऊँगा और हर कोई अपने आपको चाहता है, इस न्याय से गधे को चाहता होऊँगा !

जिन दिनों मैं कानून की पढ़ाई कर रहा था, उन दिनों गधों ने भौंक-भौंक कर पढ़ाई में बहुत खलल डाली थी और मैं उनको दुत्कारता था। कहीं इस वजह से तो मैं उनको चाहने वाला नहीं बन गया ! संभव है। मनोविज्ञान कहता है कि

प्रेम के सिक्के की दूसरी तरफ नफरत होती है। (Hate is the other side of love-coin) पर मैं यहाँ मनोवैज्ञानिकों से सहमत नहीं हूँ। वे मेरे मन को जानें, क्या उनसे अधिक मैं अपने मन को नहीं जानता ? हालाँकि अपने बारे में ज्यादा जानने वाला ही अक्सर अपने बारे में कम ही जानता है, पर छोड़िए यह बात !

मेरा एक मित्र कहता है कि बड़े लोगों में एक न एक विचित्रता होती है, इसी भाँति तुममें भी यह एक विचित्रता होगी। अगर मैं सचमुच ही बड़ा आदमी होऊँ तो इस विचित्रता के लिए आनंदित होऊँगा और अपने मित्र को इस खोज के लिए अभिनंदित करूँगा। पर ये श्रीमानजी उदीयमान कवि और नाटक लेखक के बजाय अगर उदीयमान मनोवैज्ञानिक बन जाएंगे तो क्या लोगों को फायदा होगा या नहीं ?

पर मैं गधे की बात पर आता हूँ। भले ही मैं बड़ा आदमी न होऊँ और यह मेरी विचित्रता न मानी जाए, फिर भी इस मित्र के कथन में कुछ सचाई है, ऐसा मुझे लगता है। एक जानी-मानी लेखिका ने 'स्टोरी ओफ द डंकी' (गधे की कहानी) नामक सुंदर कहानी लिखी थी। यह रूसी लेखिका है। फ्रेंच भाषा में लिखी इस कहानी का अंग्रेजी रूपांतरण बड़ा मजेदार है। इस लेखिका में गधे के प्रति प्रेम, मान, सहानुभूति आदि बहुत दिखती है। मुझे लगा कि गधे के प्रति जितनी इज्जत मेरे में है, उतनी उसमें भी है। अगर वह लेखिका बड़ी नहीं होती (और वह महिला बड़ी ही है) तो क्या इतनी विचित्रता दिखा पाती ? फिर बड़े लोग—बड़ी उम्र के लोग और स्वयं को बुद्धिमान समझने वाले लोग छोटों से बातचीत करते समय गधों का उदाहरण देते हैं, और उन्हें गधा कह देते हैं। यहाँ भी बड़ों की विचित्रता है। भले ही ये बुरे बड़े हों, पर बड़े तो हैं न ! कारण यह कि उनमें ऐसी विचित्रता है। क्या मेरा मित्र इस तर्क (प्रमाण शास्त्र) को स्वीकार करेगा ? आज वह बातचीत में प्रमाण-शास्त्र (logic) का प्रयोग करता है। इसे छोड़िए, पर मेडम मोंटेसरी तो बड़ी और विवेकवान हैं न ? वे इस युग की एक अग्रणी शिक्षाविद हैं। वे भी अपनी बात में गधे का उदाहरण देती हैं। मनुष्य का जो पतन हो गया सो हो गया, अब वह अकेला अपने प्रयत्नों से उस स्थिति को पुनः प्राप्त नहीं कर सकेगा—इस संबंध में मेडम मोंटेसरी ने इस प्रकार कहा था :

'उदाहरण के लिए आइए हम कल्पना करें कि इस पतन के कारण मनुष्य की प्रकृति पूरी की पूरी इस कदर बदल गई थी कि वह गधा ही बन गया था।

अब तो और भी ज्यादा गधे जन्मेंगे, भले ही वे गधे के बतौर बहुत उम्दा हों, लेकिन फकत अपनी ही कोशिशों से वापिस मनुष्य नहीं बन सकेंगे।'*

पिछले पखवाड़े ही मैंने यह पढ़ा था। यह इसलिए व्यक्त कर रहा हूँ ताकि मेरे पाठक कहीं यों न समझ बैठे कि गधे के प्रति मेरा यह आदर भाव डॉ. मोंटेसरी से लिया हुआ है। उनसे तो मैंने मोंटेसरी पद्धति ली थी। तो क्या अगर मेरे पास अपना गधा न होता तो उनसे नहीं लेता? तमाम बातों में मैं अपनी मौलिकता कैसे गुमा दूँ?

तो देखिए, मेडम मोंटेसरी बड़ी हैं और यह उनकी विचित्रता है, अतः अब अपने उस मित्र के कहे अनुसार मैं मान लेता हूँ कि मैं भी बड़ा हूँ और यह मेरी विचित्रता ही हो सकती है। यह मित्र विचित्रता ही कह रहा है। कितना सावधान है, नहीं तो मूर्खता (stupidity) भी कह सकता था। और बड़ा आदमी कहलाने के लिए मैं इसे स्वीकार भी लेता! मैं अकेला मूर्ख नहीं हूँ, यह विश्वास होने से ही मैं उसका कहना स्वीकार कर लेता।

❑

इस समय रात के तीन बजे हैं। इतना लिख लेने के बाद मुझे आराम लगता है; मन-मस्तिष्क का भार हल्का हो गया लगता है। अगर मेरे लेखन को विद्वान लोग सर्जन कहें तो (मैं तो इसे सर्जन ही मानता हूँ, क्योंकि यह मेरे उत्कट मनोभावों का अवतार है।) मैं कहूँगा कि सर्जन द्वारा शांति मिलती है और इसका यह प्रमाण है।

सोचता हूँ, प्रेमी लोग आधी रात में उठकर प्रेम-पत्र क्यों लिखते होंगे? उत्कट मनोभावों को आविर्भूत करने के लिए ही तो!

❑

---

* 'Now let us imagine for the purposes of illustration that, by this fall, the man's nature was changed so completely that he was changed into a donkey. There will now be born many other donkeys; these may be very good as donkeys, but they can not by their own efforts, be changed back into men again.'

मैं जानता हूँ कि मेरा स्वभाव बहिर्मुखी (extrovert) ज्यादा है। अलबत्ता, मुझ में अंतर्मुखी (introvert) वृत्ति के लक्षण हैं, परंतु वे बहिर्मुखी स्वभाव के अंतर्गत रहते हैं, इसीलिए मैं हमेशा कर्म-प्रधान हूँ तथा कर्म के साथ ही मुझे चिंतन-मनन करना अधिक अनुकूल लगता है।

मेरा एक मित्र कहता है कि अगर कोई मुझे चौबीसों घंटे आरामकुर्सी में बिठाकर सोचने को कह दे तो मैं वैसा कर सकता हूँ। मैं कहता हूँ कि चौबीस घंटों काम करते-करते मैं थकूँ नहीं तो काम करता रहूँ। मेरा दोस्त पक्का अन्तर्मुखी माना जाता है और मैं बहिर्मुखी।

मैं बहिर्मुखी हूँ तभी तो इस समय मुझे नींद नहीं आ रही, (मेरे पैरों में जलन हो रही है इस वजह से) इसीलिए सोचने के बजाय मैं लिखने बैठा हूँ।

मूर्ख लोग अक्सर अन्तर्मुखी लोगों को आलसी कहते हैं और बहिर्मुखी को उद्योगी। दोनों मामलों में वे गलत हैं। वस्तुतः अंतर्मुखी और बहिर्मुखी दोनों वृत्तियों के लोग उद्योगी हैं; दोनों की मूल्यवत्ता उनके विचार अथवा काम की उपयोगिता पर निर्भर है।

यह मैंने स्पष्टीकरण दिया है कि मैंने लिखना क्यों शुरू किया। पर इस कदर हर लेख में स्पष्टीकरण देना पड़े तब तो लेखकों की स्थिति बेढंगी हो जाएगी। पर क्या यह सही स्थिति है कि मैं सचमुच कोई स्पष्टीकरण देना चाहता हूँ? कदाचित ऐसा तो नहीं कि मैं इस तरह लिखकर मेरे पाठकों का मनोरंजन कर रहा हूँ? या ऐसा नहीं लगता कि मैं एक तरह की शैलीगत विशिष्टता बताने के लिए इस तरह लिख रहा हूँ? इसका उत्तर अपने विचारशील एवं विवेक-सम्पन्न पाठकों पर छोड़कर मैं आगे चलता हूँ। यह अंतिम वाक्य भी मनोरंजन के लिए है, क्या ऐसा नहीं लगता?

प्रत्येक लेखक, वक्ता या अध्यापक को यह जानना चाहिए कि उसको अपना काम किस तरह करना है। अपना पाठक, श्रोता या विद्यार्थी वर्ग जब एकाएक 'अपना' हो जाता है तभी भाषण या लेख आदि की सफलता मानी जाती है। अच्छे लेखकों और भाषणकर्ताओं में ऐसी कुशलता सहज होती है।

हम लोग इस विषय पर बात कर रहे थे कि किसी ने कहा : 'यही बात है तो आचार्य कृपलानी ने एक बार किसी को आड़े हाथों लेते हुए जबरदस्त भाषण दिया

था, मानो गाली-गलौच से ही शुरुआत की थी। और वल्लभभाई तो भाषण के शुरू से आखिर तक दो टूक बातें किया करते हैं। इसे आप क्या कहेंगे ?'

मैंने कहा : 'ये विभूतियाँ लोकमानस की जबरदस्त अध्येता थीं। लोकमानस साधारण जनों से तो खुशामद चाहता है, पर बड़े लोगों की जूतियाँ और गालियाँ भी उन्हें अच्छी लगती हैं। इसीलिए वे लोग बड़े आदमी की गालियों को हँसते हुए सुनते हैं और उनकी प्रशंसा करते हैं। अगर कोई मनोविज्ञान की परिभाषा प्रतिपल काम में लाने का शौकीन होगा तो कहेगा कि जिन लोगों में हीनता-ग्रंथि होती है वे कड़वे भाषण भी सुन सकते हैं और जिनमें श्रेष्ठता-ग्रंथि होती है वे ऐसे भाषण दे सकते हैं।

पर इस विषय में ज्यादा आनंद नहीं है। अतः जाने दें।

❑

मेरे एक आदरणीय मित्र ने मेरे बाड़े में बबूल उगा देखकर कहा : 'अरे भाई! यह बबूल क्यों उगाया है ? यह ठहरा शुद्र वृक्ष। जैसे आदमियों में शूद्र होते हैं वैसे ही वृक्षों में भी होते हैं। भला इन्हें भी रखा जाता है ?'

मैं सोच में डूब गया। मैंने सरल-सा खुलासा किया : 'हम ठहरे अंत्यजोन्मुखी अतः हमें तो ऐसे ही वृक्ष पसंद आएंगे।' उन्होंने मेरे प्रति बेरुखी दिखाई और मुझे तथा बबूल को धिक्कारते हुए चले गए।

मुझे उस समय दिये गए स्पष्टीकरण से संतोष नहीं हुआ। फुर्सत में विचार आए : 'क्या ऐसा नहीं है कि मनुष्य बाहर जिसे धिक्कारता है, वह अपने भीतर रहने वाले धिक्कारने योग्य भाग को धिक्कारता है ? हाँ, मनोविज्ञान के अनुसार तो यही कहा जा सकता है। तो क्या मेरे मित्र ने अपने भीतर विद्यमान शुद्रत्त्व को नहीं धिक्कारा ?' सोचता हूँ तब तो शास्त्रों द्वारा बनाए गए शूद्र भी क्या शास्त्रों की उस काल की शूद्रता अर्थात् हल्केपन की वजह से नहीं होंगे ? मेरे मित्र ब्राह्मण हैं, (आचार और विचार में) इसके बजाय (क्रिया और व्यवहार में) शूद्र जैसे ही हैं।

आँगन में बबूल को देखकर मेरे एक अन्य मित्र की कही बात मुझे याद आती है : 'यह बबूल बबूलों में सात्विक है, ब्राह्मण है। यह अपने काँटे अपने ऊपर ही रखता है। दूसरे क्षत्रिय बबूलों की तरह दूसरों को नहीं चुभता। कैसा

मजेदार वृक्ष है।' उनकी आँखें बड़े प्रेम से टिकी थीं उस पर। उन्होंने बबूल के कितने की गुण बताए। उनके चले जाने के बाद मुझे पहला प्रसंग याद आया। मैंने सोचा कि मेरा पहले वाला विचार सही था। उसके अनुसार मेरे ये मित्र अपने भीतर के सद्‌गुण को अपने से बाहर भी देख सके। उनके भीतर धिक्कारने योग्य तो कुछ था नहीं, प्रशंसा का भाव ही था अतः बबूल में भी उन्होंने वही देखा। दोनों मित्रों में से दूसरे वाले सात्विक वृत्ति के हैं, सच्चे देशभक्त हैं, स्वाभाविक वृत्ति हैं और निरभिमानी हैं।

और बबूल क्या है ? ब्राह्मण या शूद्र ? मुझे लगता है कि बबूल बबूल है, न ब्राह्मण है न शूद्र ! पर वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का आईना है।

❑

छोटे चाचा का मकान बन रहा है। वे सद्‌गृहस्थ हैं और उन्होंने अपने कांट्रेक्टर पर पूरा विश्वास व्यक्त किया है। कांट्रेक्टर अपनी दृष्टि और मरजी से छोटे चाचा का घर बना रहा है। आजकल हमारे अगल-बगल में चारों तरफ मकान बन रहे हैं। मकान बनवाने का मानो युग आ गया है अथवा कहें कि लोगों को हवा लग गई है।

मकान छोटे चाचा का है फिर चंपा बुआ वहाँ रोजाना जाती हैं और कांट्रेक्टर की कोई न कोई त्रुटि निकाल लाती हैं कि 'वहाँ हवा के लिए खिड़की तो रह ही गई।' 'वहाँ फर्श की रेखाएँ बराबर नहीं जुड़ी।' 'रसोई के चौके में ढलान ही कहाँ है ?' आदि-आदि।

चंपा बुआ छोटे चाचा की माँ, पिताजी और उनकी पत्नी को आकर बातें बताती हैं और पूरे घर में ये बातें फैलती हैं। घर के सभी सदस्य कांट्रेक्टर पर गरम होते हैं या अंदर-अंदर एक-दूसरे पर गरम-नरम होते हैं। छोटे चाचा मन ही मन दुःखी होते हैं : 'यह घर बनवाकर मैं तो हैरान हो गया! मुझे दूसरों की दखल नहीं चाहिए, तब बुआ क्यों दखल देती हैं ?'

छोटे चाचा दर्शन और मनोविज्ञान विशारद हैं। नया मनोविज्ञान भी पढ़ते हैं। वे बुआजी के इस तरह के लगाव को लेकर कारण खोजने लगे। इनके मन में बुआजी के प्रेम और शुभाकांक्षा को लेकर शंका होने लगी। उन्हें कोई समाधान हाथ नहीं लगा।

अगले दिन ही बुआजी आईं और कांट्रेक्टर पर बिगड़ने लगीं : 'सारा घर बिगाड़ दिया! मैं तो जानती ही थी कि यह कांट्रेक्टर बदमाश है।'

छोटे चाचा ने पूछा : 'तुम्हारा मकान भी इन्होंने ही बनाया था न!'

'हाँ, देखा नहीं, मकान के बगल वाली दीवार में दरार पड़ी है! फिर से पैसे खरच करूँगी तब जाकर मरम्मत हो पाएगी।'

छोटे चाचा बोले : 'दरार कब पड़ी।'

उत्तर मिला : 'तेरह दिन हुए।'

छोटे चाचा ने गणना की। बराबर बारह दिनों पहले ही बुआजी ने कांट्रेक्टर की खिलाफत खड़ी की थी। पल भर में चाचा समझ गए। सब कुछ खराब हो रहा है, ऐसी बात नहीं थी। वस्तुतः बुआजी और फूँफाजी की नजर में कांट्रेक्टर खराब हो गया है। छोटे चाचा को आगे सोचने के लिए कुछ नहीं रहा।

❑

वातावरण में ए. एस. नील को लेकर बहुत बातें होती हैं। कइयों को तो नील का भूत चढ़ गया हो, ऐसा लगा। सच मानें तो नील सभी देशों में शिक्षाविद के रूप में प्रमाणित नहीं समझा जाता। नए शिक्षाविदों की सूची में उसका नाम कहीं नहीं। शैक्षिक पुस्तकों के अंत में दी जाने वाली संदर्भ-ग्रंथ सूचि में भी उसका नाम नहीं मिलता। यूरोप के ऐसे अप्रसिद्ध व्यक्ति का नाम हम क्यों लेते हैं?

बात यों हो सकती है। नील अन्तर्मुखी वृत्ति का आदमी होना चाहिए। मि. जिराल्डीन कॉस्टर लिखते हैं : 'अन्तर्मुखी वृत्ति वाले आदमी की जीवनी-शक्ति अंदर की तरफ मुड़ी हुई होती है। (An introvert is a person whose libido or life-force is turned inward.) इसी वजह से नील लेखक, विचारक और गूढ़ार्थी भी है।

नील का लेखन सर्जनात्मक नहीं, विवेचनात्मक है। श्रीयुत अरविंद घोष ने उसे 'लेफ्ट हेंडेड माइंड' कहा था। उनके कहने के अनुसार ऐसे मनुष्य की शक्तियों में विवेचन-शक्ति आती है।

निश्चय ही नील विवेचनात्मक है। वह अपने बारे में भी विवेचन करता है। वह अपने बारे में विचार करता हो, इस तरह लिखता है और प्रत्येक वाक्य

में विचार जागृत करता है। 'समस्या बालक' नामक अपनी पुस्तक के अंतिम प्रकरण में वह गूढ़ार्थी भी बन जाता है।

एक तरह से शिक्षक अंतर्मुखी वृत्ति के ही होते हैं और वकील, व्यापारी, राज कर्मचारी सब बहिर्मुखी वृत्ति वाले होते हैं। मुश्किल तब आती है जब अंतर्मुखी वकील बन जाते हैं और बहिर्मुखी शिक्षक। अन्तर्मुखी वकील मुवक्किल को छुड़ाने की बजाय अथवा अन्तर्मुखी राज्य कर्मचारी राज्य को उबारने की बजाय केस में या प्रश्न के न्याय-अन्याय के गहन विचार में उतर जाता है परिणामतः केस भी हाथ से जाता है और राज्य भी। इसी तरह बहिर्मुखी शिक्षक पढ़ाने की बजाय शिक्षण से संबंधित बातें अधिक करता है और सिद्धांतों को अमल में लाया हुआ देखकर आत्मसंतोष प्राप्त करने के बजाय उसका प्रचार ज्यादा करता है।

राज्य कर्मचारी अंतर्मुखी वृत्ति वाला होने से जो नुकसान होता है, उसकी तुलना में अगर शिक्षक बहिर्मुखी वृत्ति वाला होगा तो उसका नुकसान कहीं अधिक होगा। हर समय संस्था या शाला की व्यवस्था पर ही विचार करने वाले तथा प्रचार मात्र करने वाले संस्थापक या शिक्षक अगर बहिर्मुखी होंगे तो वे संस्था या शाला के लिए नुकसानदायी ही होंगे। अगर वे शिक्षण संस्था को एक राज बना देंगे तो वहाँ से सरस्वती विदा हो जाएगी।

इस बात से अनेक लोगों को सावधान तो रहना ही चाहिए।

❑

अब मैं नील की तरह आत्म-विवेचन करता हूँ। क्या मैं अंतर्मुखी वृत्ति का हूँ या बहिर्मुखी? ईमानदारी से सोचता हूँ तो लगता है, मैं दोनों ही हूँ। बाल मंदिर के चालू काम में मैं अंतर्मुखी रहता हूँ, प्रकाशन मंदिर और शिक्षण-पत्रिका के प्रचार हेतु मैं जो हलचल करता हूँ उसमें बहिर्मुखी रहता हूँ और इसीलिए मुझे लगता है कि मैं संतुलित मस्तिष्क वाला हूँ। कोई मनोविज्ञानवेत्ता मुझे इस आशय का प्रमाण-पत्र दे सकता है।

दोनों में अंतिम स्थिति तक कोई चला जाए तो वह भयंकर होगी। तब आदमी पागल, अता-पताहीन, निष्प्राण और नालायक हो जाएगा। अधिकांश लोग सुसंतुलित होते हैं और उनमें दोनों वृत्तियों का न्यूनाधिक मात्रा में मिश्रण होता है।

मुझे डर लगने लगा है कि अभी मैं इस विषय पर शांति से निबंध लिखने लगूंगा। तो आइए, 'चलते-फिरते' लिखें।

❑

आज 1-6-33 तारीख है। आज की तीन घटनाएँ उल्लेख करने योग्य हैं। तीनों एक-एक सिद्धांत की सूचक हैं।

कुत्ते लड़ रहे थे। दोनों तरफ की संख्या बराबर थी। एक पक्ष का अगुवा था कालिया और दूसरे पक्ष का धोलिया। धोलिया वाले बड़े जोर-जोर से भौंक रहे थे और कालिया वाले शांत खड़े प्रतिपक्षियों को देख रहे थे। बड़ी देर तक वे भौंकते रहे, कालिया सुनता रहा। तभी कालिया एक कदम आगे बढ़ा कि धोलिया वाले दस कदम पीछे हट गए। पीछे हटकर वे और जोर से भौंकने लगे। पुनः कालिया पक्ष शांत खड़ा रहा। कालिया एक बार भौंका और उसने आँखें दिखाई। धोलिया वाले पाँच कदम पीछे हटे और तिगुने जोर से भौंकने लगे। मैंने देखा कि गुंडों और डरपोकों का यही सच्चा दृश्य था। पहले धोलिया वाले बहुत जोरों से भौंकते थे, लेकिन कालिया थोड़ा-सा आगे बढ़ता, कि सामने वाले डर कर पीछे हट जाते थे।

शांति एक शक्ति है, भौंकना-चीखना कमजोरी है।

दूसरी घटना एक पड़ौसी के घर की है। पड़ौस वाली त्रिवेणी बहन चूल्हे पर भाजी चढ़ाकर हमारे घर चली आई; थोड़ी-सी देर के लिए ही। पर न जाने कैसे वे हमारे यहाँ रुक गई। वापिस लौटकर देखा तो भाजी जलकर राख हो चुकी थी। बहुत दुखी हुई। भोजन करते समय पति से कहा : 'अरे रे! आज तो भाजी बिल्कुल ही जल गई। मैं थोड़ी देर के वास्ते गिजुभाई के घर गई थी और चूल्हे पर भाजी चढ़ाने वाली बात बिल्कुल भूल ही गई।' मैं वहाँ खड़ा था और त्रिवेणी बहन तथा चंद्रप्रसाद के बीच हुई सवेरे वाली बात याद आई।

त्रिवेणी बहन बोली : 'आज भाजी के बजाय गोभी मँगा लें तो? मुझे रोज-रोज भाजी नहीं भाती।' चंद्रप्रसाद बोला : 'तुम्हें न खानी हो तो मत खाना, पर मुझे तो खानी है इसलिए मँगाओ।'

अब मैं समझा कि भाजी कैसे जल गई थी। हमारा अंतरमन भाजी को किस तरह और क्यों जलने देता है, यह हमें भी समझ में नहीं आता; त्रिवेणी बहन भी यह नहीं समझ सकीं, और दुखी होते-होते उन्होंने भी भाजी बगैर खाना खाया।

तीसरी घटना। कुछ दिनों से मेरा फूलदान चन्द्रहास भरता है। उसको फूलदान भरना रुचिकर नहीं लगता, लेकिन दिखावे के लिए भरने में रुचि दिखाता है, और भरता भी बड़े ठाठ से है। चतुर आदमी को कभी अरुचि से काम करना होता है तो वह दुगुना अच्छा काम करता है; ऐसे आदमी को किसी से बातचीत करना जब अच्छा नहीं लगता तो खास तौर से मधुर बोलता है और अगर किसी की तबीयत का पता लगाने में रुचि नहीं होती तो विशेष आग्रह के साथ उसे देखने जाता है।

दो-चार दिनों के लिए चन्द्रहास किसी दूसरे काम में लग गया तो ललितशंकर फूलदान भरने लगा। चौथे दिन चंद्रहास दिखा। बातों-बातों में उसने कहा : 'ललितशंकर मेरे से बढ़िया फूलदान सजाता है, इसे मुझसे अच्छा भरना आता है इसलिए आइंदा मैं नहीं भरूँगा।'

बात यह थी कि श्रीमानजी इस काम से निकलने का बहाना ढूँढ़ रहे होंगे। बस, उन्हें मिल गया! उन्होंने जो कारण बताया था वह सही नहीं था, हकीकत में तो उनको अरुचि थी। पर सही बात बताने की बजाय उससे मिलता-जुलता दूसरा कारण बताया अर्थात् यों कहना चाहिए कि कारण के बजाय तर्क पेश किया। मन की इस रीति को तर्कवाद-बुद्धिवाद कहा जाता है।

अगर सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो लोग इस तरह का तर्कवाद दिन भर करते हैं। अधिक पहुँचे हुए कई लोग तो देख-परख कर ही करते हैं; कुछ दूसरे खरे पहुँचे हुए लेकिन अपनी पहुँच को न समझने वाले गलत तर्क को सही मानते हैं और अपने कारण को सत्य ही मानते हैं। लेकिन आसपास की हकीकतों से उनकी वृत्ति अलग होती है, यह हम देख सकते हैं।

❑

पिछले पखवाड़े मैंने A Diary of a Communist Undergraduate अर्थात् एक 'साम्यवादी अंडर ग्रेजुएट की डायरी' पढ़ी। किसी रूसी लेखक द्वारा लिखी गई वह अंग्रेजी में रूपांतरित थी। बढ़िया पुस्तक थी। शैली प्राणवान और सरल प्रवहमान। प्रगल्भ भी, विचारपूर्ण भी।

पढ़कर मैं खुश हो गया। मैंने जाना कि रूसी विद्यार्थियों का मन-हृदय कैसा धड़क रहा था। अन्य बातों को छोड़ दें और एक ही बात कहूँ तो यह है कि

वहाँ के युवकों में जो अद्‌भुत प्राण उभरा है वह बहुत जबरदस्त है। अत्यंत चेतन, क्रिया से भरापूरा और वैविध्यपूर्ण। उस हिसाब से हिंद के जवान मुर्दे ही हैं!

लेकिन मैं दूसरी बात कहना चाहता हूँ। ट्राटस्की को थोड़ा भय था कि वर्तमान सर्वहारा सत्ता में साहित्य कैसे संभव हो पाएगा ? वह लेनिन का अनुयायी है, पर फिर भी बुर्जुवाओं की भाँति यह मानता प्रतीत होता है कि साहित्य तो अवकाश, आराम और ज्ञान से ही उद्‌भुत होता है। पुलों का निर्माण करने वाले और हल बोने वाले मजदूर-किसान वर्ग से वैसा साहित्य कैसे संभव है ?

यह पुस्तक ट्राटस्की को पढ़नी चाहिए क्योंकि यह उसके विचारों का उच्छेदन करती है।

साहित्य तो भीतर के मंथन से उद्‌भूत होता है और रूस में आजकल अद्‌भुत एवं अपूर्व मंथन चल रहा है। सही वक्त तो आज है, आज जो लिखा जा रहा है वही सच्चा साहित्य है।

कुर्सियों में बैठे-बैठे कल्पना के घोड़ों के पंखों पर रचा गया साहित्य साहित्य नहीं होता; भले ही उसे विविध नाम दे दें पर वह आलेख मात्र है। साहित्य तो शरीर, मन और आत्मा को निचोड़ देने वाली रुधिर-सरिता है। साहित्य तो शरीर, मन और आत्मा की प्रसन्नता से झरने वाला अमृत निर्झर है। आत्मानुभव का उद्रेक ही साहित्य का प्रभव-स्थल है। रूस आज अपनी शक्तियों का आत्मदर्शन कर रहा है। यह जो कुछ लिख रहा है, वह अनुभव का निथरता हुआ पक्ष है। ट्राटस्की अपने इस विचार को अगर सच मानता है तो वह भूल कर रहा है।

Red Corner Book पढ़ें। कितना सुंदर और सशक्त बाल-साहित्य है। हमारे पौरुषहीन साहित्य की उसमें गंध तक नहीं है। वहाँ तो पूरे देश की भावना मूर्तिमंत है। बालकों को जो चीज सिखानी है, उससे संबंधित प्रबल पाठ उसमें विद्यमान हैं। पुस्तक में लिखी 'किसके लिए' रचना पढ़ें। शुरू की कविताएँ देखें। अगर किसी को शंका हो कि 'एंजिन और हल की प्रवृत्ति से कैसी कविता और कैसा काव्य ?' तो मैं कहूँगा कि उसमें छपी 'एंजिन' की कविता पढ़िए। हमारे यहाँ कौनसा प्राण फूटा है, जो इस प्रकार की कविता के रूप में फूट निकला हो! सौंदर्य के नाम पर हमारे काव्य में निष्प्राणता के सिवा और क्या है ?

❑

जाने दें यह माथापच्ची! हमारे लेखक व साहित्यकार मुझ पर ही बिफरेंगे। मुझे ही उधेड़ेंगे : 'तो लिखो न तुम्हीं प्राणवान साहित्य ?' पर मैं भी तो तमाम मुर्दे लेखकों में शामिल हूँ न! मुझ में ही प्राण होते तो 'वसंत आकर गया', 'कुत्ता बोला और गधा रेंका', 'घास खाई और जूतियाँ पहनी' जैसी रचनाएँ ही लिखता क्या ?

अगर हम रूस जाएँ तो ? अरे राम, क्या इस तरह भी मुर्दों को प्राण मिलते होंगे ?

पर रूस वाले बड़े जबरे हैं! मेरे बेटे कहते हैं कि आकाश में भी ईश्वर को खोजा, पर वहाँ भी नहीं है। भला अब ईश्वर को कैसे मानें? उनके विद्यालयों में विधिवत पढ़ाया जा रहा है कि ईश्वर नहीं है, नहीं है, नहीं है।

अंत्यज को छूना पाप मानने वाला कोई कहेगा : 'हाय! हाय! रूस का तो सत्यानाश ही होगा! शांतं पापं, शांतं पापं!' आकाश में नहीं तो पाताल में रहने वाले ईश्वर को तो मजा आता होगा।

ईश्वर भी इधर-उधर छिपकर रूस की प्रशंसा कर रहा होगा। वह कहता होगा कि 'हैं तो बेटे प्राणवान, बलवान! वे लोग कदाचित आत्मा का राज्य लेंगे, मेरे दर्शन करेंगे।' ईश्वर जानता है कि 'निर्बल हिन्दुस्तान वालों ने मुझे ग्रंथों में, घट-पट आदि बातों में तथा पत्थरों में रखा, ढोंगी ख्रिस्तियों ने मुझे बाइबिल में और चर्च में रखा, इस्लामियों ने मस्जिद में रखा, पर इन लोगों ने तो मुझे धकेल ही दिया और रूस को साफ कर दिया। अब स्वच्छ रूस के हृदय में मैं धीमे-धीमे अधिक स्पष्ट दिखाई देने वाला हूँ। इस समय मैं उन्हीं में मूर्त हुआ हूँ। वे सब सबों के लिए जीते हैं, यही ईश्वर की उपासना है। मैं उनके भीतर विराजमान हूँ तभी तो वे न कहीं मेरी तलाश करते हैं, न मुझे कहीं बिठाते हैं; जबकि उन अन्य लोगों के अंदर मैं नहीं हूँ तभी तो वे मुझे ढूँढते हैं और मुझे जहाँ-तहाँ बिठाते हैं। पर मैं ऐसा कोई नहीं कि उनको दिख जाऊँ ?'

मैं भी कैसा हूँ कि ईश्वर की तरफ से सब कुछ जाहिर करने बैठ गया। दुःख इसी बात का तो है कि ईश्वर ने मुझे बनाया और मैं उसे बना रहा हूँ। मनुष्य यहीं तो भयंकर भूल कर रहा है, क्यों न हो, अंततः मैं मनुष्य ही तो हूँ।

❑

अंग्रेज मुझे अपनी दृढ़ता और स्थिरता के कारण अच्छे लगते हैं, अमेरिकी अपनी गतिशीलता के लिए, तो जर्मन हिम्मत के लिए अच्छे लगते हैं, इसी भाँति रूसी अपनी क्रियाशक्ति के लिए पसंद आते हैं। उनका राज्यचिह्न हँसिया-हथौड़ा क्रिया-शक्ति का सूचक है। वे निर्णय लेते हैं और अमल में लग जाते हैं। हर मामले में वे इस पार या उस पार का ही फैसला करते हैं।

एक ही उदाहरण लें। दुनिया भर के शिक्षाविद परियों की कथाएँ बच्चों को कही जाएँ या नहीं, इसे लेकर अपने निर्णय में दृढ़ नहीं हैं और अधबीच डुबकियाँ खाते हैं, तब रूस ने परियों के लिए कोई जगह ही नहीं रखी। उनका आदर्श स्पष्ट है, क्योंकि उनका दिमाग स्पष्ट है क्योंकि हाथों-पैरों से स्वयं काम करेंगे तो मस्तिष्क में ताजा रक्त प्रवहमान होगा।

और उदाहरण लीजिए। सहशिक्षा की बातें दुनिया के अन्य देशों में चल रही हैं। थोड़े-बहुत प्रयोग हुए हैं और उन्हें स्वीकार किया गया है, तभी रूस ने अपने यहाँ तमाम विद्यालयों में सहशिक्षा को लागू ही कर डाला।

शारीरिक शिक्षा के पक्ष-विपक्ष में दुनिया भर के शिक्षाविद भाषण दे रहे हैं और लेख लिख रहे हैं, पर रूस ने तो उसे बिल्कुल हटा ही दिया और वह भी द्रुत गति से।

मनोविज्ञान के नियमानुसार रूस में बुद्धि है और बल भी है। डॉ. मोंटेसरी कहती हैं : 'शीघ्रता का पर्याय है बुद्धिशक्ति और काम निश्चय ही क्रियाशक्ति है।' भला कौन कहेगा कि रूस में कल्पना कम है ? एक बार आप 'पंचवर्षीय योजना' तो पढ़ लें, भव्य कल्पना का विराट दर्शन होगा।

❑

मैं रूस पर विमोहित तो नहीं हो गया ? नहीं रे भाई, मुझे इतनी फुरसत नहीं। मैं ऐसा पागल नहीं कि मन में कहने लगूँ : 'हे भगवान ! अगला जन्म रूस में देना।' मुझे वहाँ जन्म नहीं लेना। मैं ठंड से डरता हूँ। अपने को तो यह गरम देश ही अच्छा लगता है। हे भगवान ! मुझे तो इस हिन्द में ही फिर से जन्म देना।'

पर आज रूस पर कैसे उतर आया ? किताब भी एक तरह का नशा है। सभी तरह का वाचन एक नशा है। इसे जब हम शराबी की भाँति नशे में बाहरी संसार को भुला देना माँगते हैं, तब हम पुस्तक का नशा चढ़ा लेते हैं।

आज 'टुवर्ड्स न्यु एज्युकेशन' अर्थात् 'नवीन शिक्षा की ओर' नामक किताब पढ़ने में आई तो उसका नशा चढ़ा और इतना लिखा गया।

रूस के बारे में भी फकत वाचन के नशे से ही लिखा गया है, इसके सिवा क्या आज का तमाम लेखन नशे की परिणति नहीं है ? लेखक को कुछ तो नशा करना ही चाहिए न ? मेरे एक मित्र को चाय का नशा काफी है; किसी को लाल पानी के नशे की जरूरत होती है तो किसी को कुएँ के पानी के नशे की। नशे के बिना चलता भी क्या है ? शंकर भगवान को भी तो नशा करना पड़ता है !

❑

रूस ने ईश्वर को निकाल दिया है तो वह हिन्दुस्तान में कुछ ज्यादा ही आ गया लगता है। अन्यथा मेरे जैसा जाहिर नास्तिक माला फेरे ? मेरी छोटी पुत्री बबु ने आश्चर्य से पूछा : 'किसकी माला फेरते हैं ?'

वह ग्यारह बरस की है, पर माला में क्या आता है, इसकी उसे जानकारी नहीं। पर मैं रूसी नहीं बल्कि एक शिक्षाविद हूँ, इस वजह से मैंने अपने बच्चों को परंपरागत धर्म से बचाया है। अर्थात् अभी तक मैंने उन पर धर्म अथवा धार्मिक क्रियाएँ लादी नहीं हैं। इस संबंध में वे बहुत छोटे हैं और धर्म बहुत बड़ा है, अथवा यों भी कह सकते हैं कि तभी तो वे इतने अधिक सच्चे धार्मिक हैं और खोटे धर्म से दूर रहने लायक हैं। अपने बच्चों के बारे में बखान करने का मेरा हक है, यही नहीं अपितु ऐसा करना आवश्यक है।

बबु को मैंने उत्तर देते हुए कहा : 'भगवान की।'

बबु बोली : 'अर्थात् राम की या किसकी ?'

मैंने कहा : 'सूर्य भगवान की। सूर्य हमारा प्राणदाता है। जीवन मात्र—पदार्थ मात्र को चेतनता प्रदान करने वाला है। अगर वह उगे नहीं तो सब कुछ ठंडा पड़ जाए, ठिठुर जाए, मर जाए; इसलिए मैं उनके गुणों पर, उनके उपकार पर विचार करता हूँ, अर्थात् मैं सूर्य की प्रार्थना करता हूँ—ॐ भूर्भुवः स्वः वगैरे।'

प्रार्थना शब्द सुनकर कुछ याद करती हो, इस तरह जरा रुककर वह बोली :— हाँ, हाँ 'कुमार' में कुत्ते की प्रार्थना है। उसे मैंने पढ़ा है।'

मैंने पूछा : 'उसमें क्या है ? कुत्ता क्या प्रार्थना करता है ?'

बबु बोली : 'उसमें कुत्ते ने कहा कि हे भगवान, मेरे मालिक को मेरे जैसा भला, वफादार और प्रेमिल बना दे।'

मैंने पूछा : 'ऐसी प्रार्थना उसने क्यों की ?'

बबु बोली : 'क्योंकि उसका मालिक अच्छा नहीं था।' यों कहती हुई वह हँस पड़ी। मुझे लगा कि यह कुत्ते की प्रार्थना का मतलब समझती है। आखिर में मंद-मंद मुस्कराते हुए उसने कहा : 'प्रार्थना कुत्ते ने थोड़े ही की होगी, वह तो लेखक ने कुत्ता बनकर लिखी होगी।'

❑

खैर, वह बात तो वहीं खत्म हुई। मैं सोचने लगा कि क्या हम दोनों की बातचीत में धार्मिक शिक्षण जैसी कुछ बात बनी ?

जैसे-जैसे मैं अपने सोच में आगे बढ़ने लगा वैसे-वैसे धार्मिक-शिक्षण के विचार मात्र से घबराने लगा। जिस चीज को मैं जानता तक नहीं, उसका शिक्षण कैसे दिया जाए ? मैं इतना जानता हूँ कि लोग धर्म समझकर जिसकी शिक्षा देते हैं वह धर्म तो नहीं, और वह शिक्षा धर्म की भी नहीं।

पर मैं क्यों चिंता करूँ? धर्म को चिंता होगी तो वह अपनी आप संभालेगा। सब सबकी संभालें। और आज का जमाना तो 'जीओ और जीनो दो' का है। मैं धर्म में अव्यवस्था क्यों पैदा करूँ? उसकी शांति में खलल पहुँचाने का मुझे क्या अधिकार ?

❑

मेरे मित्र श्री जंयतिलाल साहित्य के शौकीन हैं। सभी साहित्य-प्रेमी एकाध मासिक मँगवाते हैं, वैसे ही जंयतिलाल भी 'प्रस्थान' मँगवाते हैं।

जब वे यह पत्रिका मँगाते हैं तो मेरा अनुमान है कि साहित्य में अच्छी समझ रखते होंगे, क्योंकि 'प्रस्थान' मासिक ऐसा है कि जिसे समझदार लोग ही पढ़ सकते हैं, अथवा यो कहें कि जो लोग 'प्रस्थान' पढ़कर आनंद लेते हैं वे समझदार गिने जाते हैं।

'प्रस्थान' के सम्पादक मेरे पुराने और वर्तमान मित्र श्री रामनारायण वि. पाठक हैं, अतः 'प्रस्थान' को लेकर मेरा मत ऐसा ही होना चाहिए कि यह

साहित्य का एक सुंदर मासिक है। जिस तरह मुझे मेरा मित्र, चाहे वह रूपवान हो या नहीं, अच्छा लगता है, उसी तरह वह मासिक भी अच्छा लगता है।

पसंद आने के संबंध में ऐसा है कि एक पुरानी गुजराती कहावत है 'राजानी राणी छाणां वीणती आणी'।* मनोविज्ञान के 'पसंद' प्रकरण के किसी अध्याय का यह शीर्षक होने योग्य है।

अगर आपको कोई आदमी अच्छा लगता है तो वह सम्पूर्णतया अच्छा लगता है; अगर वह आपको अच्छा नहीं लगता तो उसकी कोई भी चीज अच्छी नहीं लगती। रूप के कारण कोई व्यक्ति अच्छा लगता है और कुरूप होने के कारण अच्छा नहीं लगता, यह बात सही नहीं है। अगर आदमी पसंद नहीं है तो उसका रूप भी पसंद नहीं होगा, और आदमी पसंद है तो उसकी कुरूपता भी ऐसी अच्छी लगती है कि पूछो मत! श्रीकृष्ण को कुबड़ी कुबजा पसंद थी। पसंद थी इसलिए उसका कूबड़ भी पसंद था और कुबड़ी चाल भी अच्छी लगती थी। मुझे लगता है कि अगर स्त्रियों को उनका पति अच्छा लग जाए तो भले ही वह काला हो या कुबड़ा, तब भी पसंद ही आएगा; और अगर अच्छा नहीं लगे तो भले ही वह रूपवान हो, तब भी पसंद नहीं आएगा। प्रश्न यह है कि यह अच्छे लगने की बात आती कहाँ से है।

इस प्रश्न के कई खुलासे हैं, और वे जितने सही हैं उतने ही गलत भी। कोई कहता है कि आदमी बुद्धि के कारण अच्छा लगता है। कोई कहेगा कि ज्ञान की वजह से आदमी पसंद आता है। कोई कहेगा सारी बात अंतःकरण पर दरोमदार है। कोई मत ऐसा भी है कि प्रथम प्रभाव पर ही सब कुछ अवलंबित होता है। मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि सही आधार विरोधी भावों के सम्मिश्रण पर है। ज्योतिष शास्त्री राशि के मेल पर आधारित करते हैं। अंग्रेजी ज्योतिषी मेल मिलाने वाले सिद्धांत Affinity Theory में आस्था रखते हैं। तो कोई कहता

* राजा अपनी मर्जी के अनुसार हर तरह का व्यवहार कर सकता था। अगर उसको उपले बीन-बीन कर जीविका चलाने वाली गरीब और निम्न वर्ण की स्त्री भी पसंद आ जाती तो वह उसको अपनी रानी बना सकता था। इसमें उसके सामने किसी तरह के बंधन बाधक नहीं थे। न कोई उसे रोक सकता था। वह इस हद तक मुक्त और स्वतंत्र पसंद कर सकता था। (अनुवादक)

है कि यह सब नैसर्गिक बातें हैं। 'व्यतिषजति पदार्थान् आन्तरः कोऽपि हेतुः'।*
ऐसा ही एक वाक्य और है : 'मनो हि जन्मांतर संगतिज्ञम्।'**

इन तमाम बातों को छोड़कर यह बात श्री जयंतिलाल के ढूँढ़ने के लिए छोड़ देते हैं कि उन्हें साहित्य क्यों अच्छा लगता है। आइए, हम उन्हें उनकी शोध पर बिठा दें।

❑

श्री जयंतिलाल को साहित्यचर्चा करना अच्छा लगता है। वे मानते हैं कि साहित्य-सृजन के लिए फुरसत (leisure) होनी चाहिए। मैं उनके साथ चर्चा करने की इच्छा रखता हूँ। मैं उन्हें बताना चाहता हूँ कि साहित्य की उत्पत्ति किससे होती है, यह विचार मुख्य है और पहले विचारने योग्य है; फुरसत तो एक परिस्थिति मात्र है। परिस्थिति थोड़ी-बहुत अनुकूलता-प्रतिकूलता देकर वेग में न्यूनाधिक बढ़-घट कर सकती है, लेकिन सर्जन परिस्थिति से नहीं अपितु मनोमंथन से पैदा होता है; हेतु-तृप्ति की तीव्र इच्छा से पैदा होता है, सर्जन की अनिवार्यता से उद्‌भूत होता है।

मेरा विचार है कि लेखकों को हम चार भागों में बाँट सकते हैं :

1. सर्जनात्मक लेखक (Creative Writer)
2. विवेचनात्मक लेखक (Critical Writer)
3. प्रयोजनात्मक लेखक (Purposive Writer)
4. व्यावसायिक लेखक (Professional Writer)

जिस क्रम में मैंने लेखकों का ऊपर उल्लेख किया है उस क्रम में मैंने उनकी लेखन-प्रवत्ति या शक्ति का क्रम गिना नहीं। प्रत्येक वर्ग का लेखक उत्कृष्ट लेखक के बतौर गिना जाना संभव है। जिस वर्ग का जो लेखक अपने वर्ग को पर्याप्त न्याय दिलाने योग्य कृतियाँ अपनी सुंदर, मनोरम शैली द्वारा प्रकट करता है, वह लोकप्रिय हो जाता है और उसकी कृतियाँ उत्कृष्ट साहित्य की गणना में आ जाती हैं। ऐसा होना संभव है। सारी बात इस पर निर्भर करती है कि वह अपनी आत्मा को अपने काम में सुंदर रीति से किस सफलता के साथ रख पाता है।

पर श्री जयंतिलाल मेरे उक्त मनोकल्पित वर्गों को सोदाहरण स्पष्ट करने हेतु मुझसे कहें, उससे पहले ही अगर में स्पष्ट कर दूँ तो दोनों को लाभ होगा।

सर्जनात्मक लेखक किसी के लिए नहीं लिखता, अपितु वह अपनी सर्जनात्मक वृत्ति को अवकाश देने अथवा कहें तृप्त करने के लिए लिखता है। मनो-विश्लेषणशास्त्र की परिभाषा में कहें तो वह अपनी जीवनी-शक्ति को मुक्ति देने (libido को release करने) के लिए लिखता है अर्थात् अपने आत्मदर्शन और परितृप्ति के लिए लिखता है। उसके समक्ष यह प्रश्न नहीं रहता कि आज या कल उसके लेखन से लोगों का कल्याण होगा या नहीं। उसकी कृति प्रकाशित भी होगी या नहीं; इस बारे में भी ऐसा लेखक बेफिक्र और तटस्थ रहता है। उसको सुख व शांति तो स्वयं को व्यक्त करके छूटने में है।

इस वर्ग में अधिकांशतया कवि आते हैं। हमारे यहाँ (गुजराती में) सर्जनात्मक लेखक बहुत कम हैं। कदाचित मुंशी (के. एम. मुंशी) इसमें आते हैं। मेघाणी भी अपनी अनेक रचनाओं द्वारा आते हैं। न्हानालाल भी आते हैं-। विदेशी लेखकों में चेखव और मोपासां जैसे लेखक इस वर्ग में आते हैं। सर्जनात्मक लेखक होने का अर्थ यह नहीं कि सभी ऊँची कोटि के हैं, मैं ऐसा नहीं मानता। रमणसिंह भीमसिंह भी सर्जनात्मक लेखक है भले ही उसकी कोटि नीची है। मतलब यह है कि सर्जनात्मक लेखक लेखकों की एक प्रकृति का सूचक है। ये लेखक अधिकांशतः अंतर्मुखी हैं, प्रकृति से विचारक हैं, सौंदर्यदर्शी हैं, धार्मिक वृत्ति के हैं। ऐसी वृत्ति के लोग अपने अनुभवों और अकुलाहटों को व्यक्त करने के लिए सदैव संघर्षशील रहते हैं और जब उन्हें प्रकट करते हैं तभी उन्हें चैन मिलता है। श्री जयंतिलाल भी लेखक हैं, वे भी न्यूनाधिक रूप से इस वर्ग में आ जाते हैं, ऐसा मेरा खयाल है।

जयंतिलाल कहेंगे : 'माई-बाप! अभी से मुझे साहित्यकार की श्रेणी में कहाँ डाल दिया? मैं तो अभी साधक (अध्येता) मात्र हूँ।' उनकी नम्रता के लिए

* 'व्यतिषजति पदार्थान् आन्तरः कोऽपि हेतुः।' यह वाक्य भवभूति के 'उत्तररामचरित' नाटक में आया है। इसका अर्थ यह है कि अंतर्मन का कोई हेतु पदार्थों को परस्पर इकट्ठा करता है, जोड़ता है।

** 'मनो हि जन्मान्तर संगतिज्ञम्'। यह वाक्य कालिदास के 'रघुवंश' महाकाव्य का है। इसका अर्थ यह है कि जन्म-जन्मांतर के संबंधों को जानने वाला फकत मन ही है। किसी को कोई व्यक्ति अथवा वस्तु अच्छी क्यों लगती है, यह बात सिर्फ मन ही जान सकता है। (अनुवादक)

हमारे पास सम्मान की भावना हो इसी में हमारी सभ्यता है, लेकिन उन्हें सही कह देना ही सत्यनिष्ठा है, और अलबत्ता, सभ्यता की बजाय सत्यनिष्ठा अधिक जरूरी है।

❑

अस्तु, दूसरे वर्ग पर विचार करें। क्या इसमें मेरे मित्र रामनारायण पाठक नहीं आते ? उन्होंने द्विरेफ की कहानियाँ लिखी हैं, और कहानियाँ अधिकांशतया सर्जनात्मक साहित्य में समाहित की जाती हैं। पर सचाई यह है कि द्विरेफ की कहानियाँ सर्जन नहीं, विवेचन (criticism) है। पाठक साहब ने उन्हें लिखा है और उनके माध्यम से अपनी विवेचन शक्ति (critical sense - faculty) की तृप्ति माँगी है। पाठक तार्किक हैं, विवेचनात्मक हैं। कहानियों की छानबीन करेंगे तो पता चलेगा कि ये कहानियाँ समाज अथवा व्यक्ति के जीवन का खट्टा-मीठा विवेचन प्रस्तुत करती हैं। पाठक की विवेचक मनोवृत्ति कहानी के कलेवर तले सर्जनात्मक मनोवृत्ति का सम्मान नहीं प्राप्त कर सकती। उनका लेखन स्वच्छंद-विचरण जैसा है। पाठक मूलतः 'लेफ्ट हेंडेड माइंड' अर्थात् विवेचनात्मक हैं। वे वकील हैं—थे, मात्र इसलिए, वे मेरे मित्र हैं, मात्र इसलिए; अथवा उन्होंने प्रमाण शास्त्र लिखा है, मात्र इसलिए मैं उन्हें विवेचनात्मक लेखक नहीं कहता, वरन चूँकि उनका लेखन स्वयं कहता है, इसलिए मैं कहता हूँ।

पाठक क्षमा करें, मैं पाठक साहब के लिए सम्मानसूचक बहुवचन का प्रयोग करना भूल जाता हूँ। साहित्य में सभ्यता शोभा रूपी है, लेकिन मेरे मत से प्रेमजनित स्वाभाविकता तो उससे भी ज्यादा शोभा रूपी है, यही नहीं अपितु साहित्य को प्राण देने वाली पोषक-स्वरूप है। मैं तो पाठक को साहित्य में भी तू कह सकता हूँ। अलबत्ता, पाठक अपने 'प्रस्थान' के पाठकों के समक्ष ऐसे लेख प्रकाशित करने को मना करें तो मैं 'कौमुदी' में प्रकाशित कर सकता हूँ।

पाठक कहेंगे : 'तुम मुझको सर्जनात्मक लेखक क्यों नहीं कहते ? क्या मैं काव्य नहीं लिखता ?' मैं कहूँगा : 'कविता जोड़ने वाला हर आदमी कवि नहीं होता और सर्जक के रूप में प्रसिद्ध हो सके, ऐसी उसकी कविताएँ नहीं भी होतीं।' पाठक कहेंगे : 'पर मेरी कविता के बारे में तुम क्या कहते हो ?' मैं

कहूँगा : 'वे अद्भुत सर्जन हैं। अंतःकरण की खलबली से वे फूटी हैं, क्योंकि मैं तुम्हारे अंतःकरण के वेगों को—दबाये हुए वेगों को जानता हूँ।'

पर ऐसा क्या वह लिखा गया होगा ? क्यों नहीं लिखा जा सकता ऐसा ? अपने 'चलते-फिरते' में तो मैं सभी कुछ लिखता हूँ। सर्जन ऐसी मर्यादा स्वीकार नहीं करता। मैं इस लेखन की दृष्टि से पर्याप्त सर्जनात्मक लेखक हूँ। इसलिए मुझे कोई खास चिंता नहीं कि इन लेखों को लोग पढ़ेंगे या नहीं, अथवा इनसे लाभ होगा या हानि!

खैर, श्री विजयराय प्रसिद्ध विवेचक हैं। इन्हें भी हमारे द्वितीय वर्ग में विवेचनात्मक लेखक कह सकते हैं। विवेचन में ये उत्तम कोटि के हैं, पर अगर ये काव्य लिखें तो क्या सर्जनात्मक बन सकते हैं ? अलबत्ता बन सकते हैं; लेकिन पाठक जैसी अन्तर्वेदना अनुभव करें तो लिखें न ?

कल जब मैं सवेरे कृष्णलाल श्रीधराणी को यह पढ़ाऊँगा तो वह मुझे पूछेगा : 'तो मैं किस वर्ग में आता हूँ ?' मैं कहूँगा : 'तू अपने गुरुदेव की भाँति सर्जनात्मक कोटि के लेखकों में आ सकेगा। लिखने का तुम्हारा मन होता है, आघात लगता है, तुम कलम उठाते हो और तुम्हारे सामने तुम्हारी लेखन सामग्री मूर्तिमंत हो जाती है। तुम एक चित्रकार की भाँति अंतर्दृष्टि के समीप खुली सृष्टि को शब्दों पर रखकर सुंदर काव्य रचते हो, या एकाध 'वटवृक्ष' अथवा 'मोर के अंडे' रचते हो।'

श्रीधराणी पूछेगा : 'तब ब.क. ठाकोर किस वर्ग में होंगे ? हरभाई त्रिवेदी किस वर्ग में होंगे ? काका साहेब, गाँधीजी और स्वयं आप किस वर्ग में होंगे ?'

मेरा उत्तर यह होगा। ठाकोर, आनंदशंकर आदि साहित्य के जवांमर्दों के बारे में मैं कुछ नहीं बोलता। मैं अभी छोटा हूँ। बाकी गाँधी जी तो महान होते हुए भी सबके हैं अर्थात् नन्हों के भी। अतः उनके बाबत या दूसरे सभी जो मेरे मित्र हैं उनके बारे में कहा जा सकता है, ठीक उसी भाँति जिस तरह हस्तरेखाओं को देखकर कहा जा सकता है। हरभाई, काका साहेब, मैं, मेक्सिम गोर्की, रूसो, वाल्टेयर और ऐसे अन्य प्रयोजनमूलक लेखक कहे जा सकते हैं, क्योंकि इन सभी के सामने अमुक हेतु है। उस हेतु का प्रचार करने, उसे संसार को प्रदान करने, सभी को उसके रँग से रँग देने, उस हेतु को सिद्ध करने के लिए ये लोग लिखते

हैं और बोलते हैं। उनके पास से हेतु ले लो अथवा उस हेतु को पूरा हो जाने दो, तब देखो कि ये लोग कुछ लिखते हैं या नहीं।

समाज के दुःख से सुलग कर उसे दूर करने-कराने के हेतु से मेघाणी लिखते हैं, वह सम्पूर्ण प्रयोजनमूलक साहित्य है। गाँधीजी ने जो इतना कुछ लिखा है उसके बारे में हम जानते ही हैं कि किस प्रयोजन की सिद्धि के लिए उन्होंने वह सब लिखा है। क्रांतिकारियों की सभी रचनाएँ हेतुमूलक होती हैं, भले ही उनके लेखक दार्शनिक हों, शिक्षाविद हों या चाहे जो हों, पर वे लोग बहिर्मुख बनकर ही लिख सके हैं और लिखते हैं। टॉल्सटाय ने हेतुमूलक लिखा है, कार्ल मार्क्स का लेखन दार्शनिक है फिर भी इसी कोटि का है। सत्याग्रह संग्राम में वल्लभभाई पटेल की रचनाएँ बहुत तेजस्वी सिद्ध हुईं। उनके पीछे जबरदस्त प्रयोजन था। सभी प्रकार के साहित्य में प्राणवान साहित्य इसी वर्ग का देखने में आएगा।

काका साहेब को मुझे इसी विभाग में रखना पड़ा है, पर वे और उनके जैसे अनेक लोग इसी वर्ग में सीमित नहीं रह सकते। ये लोग दो-तीन वर्गों में सम्मिलित किए जा सकते हैं। काका साहेब एक स्थल पर सर्जनात्मक (भक्तन की टेक में) बनते हैं, पर सौभाग्य से ही; अन्यथा अधिकतर वे विवेचनात्मक हैं और जब से गाँधीजी के समीप आए हैं तब से प्रयोजनमूलक लेखक हैं।

काका साहेब या न्हानालाल जैसे लेखकों के लिए तो एक नया और पाँचवाँ वर्ग खोलना पड़ सकता है। यह वर्ग क्रांतिदर्शी लेखकों—ऋषि लेखकों का है। काका साहेब, पॉल रिशार, रोम्यां रोला, कहीं-कहीं गाँधीजी, मैडम मोंटेसरी, कई साम्यवादी लेखक भविष्य दृष्टा हैं अतः लेखन के माध्यम से कागजों में उन्होंने लिपिबद्ध किया है।

श्रीधराणी मुझे पूछेगा : 'आप श्रीमान किस वर्ग में आते हैं?'

मैं कहूँगा : 'युवावस्था में मैं काव्य और लघु कहानियाँ लिखता था। मैं आत्म संतोष और आनंद अथवा निरानंद के लिए ही लिखा करता था। हरभाई, मस्तराम, गिरीश आदि हम सब ने आत्मपरक लेखकों के बतौर लेखन-जीवन शुरू किया था। पर अब तो हम लोग प्रोपेगेण्डा अर्थात् प्रचार लेखक बन गए हैं। हम

भी तृतीय वर्ग में आते हैं। शैक्षिक प्रचार का हमारा प्रयोजन हमें लिखने के लिए प्रेरित करता है और यह प्रेरणा हमें लेखक बनाती है।'

कृष्णलाल कहेगा : 'आप तो कल को भूगोल संबंधी बातें लिखेंगे या गणित बनाएँगे, क्या वह भी प्रयोजन-मूलक साहित्य गिना जाएगा? क्या साहित्य-परिषद् उसे स्वीकार करेगा?'

मैं कहूँगा : 'साहित्य परिषद् की बात जाने दो। मेरा उत्तर यह है कि वे सब लेख कहे जाएँगे। साहित्य एक या दूसरे प्रकार का नहीं कहलाता। अगर यों सब कुछ साहित्य बन जाएगा तब तो आय-व्यय का हिसाब-किताब भी साहित्य में ही आएगा न?'

❑

चौथा वर्ग व्यावसायिक लेखकों का है। बढ़वाण केम्प में मेरा एक पड़ौसी अखबार में काम करता था। वह रात भर इधर-उधर से लेख लिखकर सवेरे अखबार निकालता था। वह बंगला भाषा से रूपांतर करता, कुछ नया निकाल लेता, दो-चार किताबें देखकर उड़ा लेता और लेख तैयार कर लेता था। इस आदमी को मैं व्यावसायिक या धंधेबाज लेखक के रूप में मानता हूँ। लेकिन यह तो इस वर्ग का एक कनिष्ठ नमूना है।

इस वर्ग में उत्कृष्ट लेखक और उत्कृष्ट रचनाएँ हो सकती हैं। वर्गों को लेकर मैं किसी भी वर्ग को नीचा या ऊँचा नहीं मानता। मैं तो सिर्फ लेखकों के प्रकार (Types) बता रहा हूँ। अखबारों के कई संपादकों को रोजाना प्रतिपल की जरूरतों के बतौर बहुत-बहुत लिखना पड़ता है, फिर भी वह अपने आप में एक साहित्यिक लेखन होता है। आजीविका के लिए लिखे गए लेखों में से भी उत्तम कोटि के लेख मिल सकते हैं। कहने का मतलब यह, कि इन लेखों के पीछे निहित प्रयोजन अन्य तीनों वर्गों के प्रयोजनों में से एक भी नहीं होता।

अलबत्ता, ये विभाग तो स्पष्ट हो गए और परस्पर निराले भी लगे हैं, पर मनुष्य का मन-मस्तिष्क किसी एकाध निश्चित वर्गीकरण से लिपटकर नहीं चलता अर्थात् किसी एकाध नमूने के जैसा केवल शुद्ध लेखक शायद ही मिले। अधिकांशतया सभी लेखक मिश्रित वर्ग के होते हैं, फिर भी उनके अपने वर्ग का प्रधान स्वर स्पष्ट दिखाई दे जाता है।

मुझे लगता है कि मुझे शिक्षा और बाल-साहित्य का क्षेत्र छोड़ कर वृहद् साहित्यिक प्रदेश में अपने विचार व्यक्त करने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। यह काम साहित्यकारों का है। इतना लिखने के बाद मुझे पछतावा हो रहा है, पर पछतावा इतना गहरा नहीं। इसमें थोड़ा-बहुत विवेक भी है, थोड़ा-बहुत लिखने की शैली भी है। इनके बावजूद मेरी दृष्टि से नहीं तो साहित्यकारों की दृष्टि से तो मेरा कथन सच ही है कि हमारे जैसों को इस पचड़े में नहीं पड़ना चाहिए।

अलबत्ता, बालकों की साहित्यिक क्षमता देखकर उनके विभाग बनाने का सरस काम हमारा है। इसीलिए कल मैंने श्रीधराणी से कहा था कि यह सुरेंद्र आत्मपरक लेखक बनेगा, सरला भी इस कोटि की आत्मलक्षी लेखक बनेगी, पर यह दिलरुबा बहिर्लक्षी बनेगी। एक ही घर में पलकर बड़े होने वाले और एक ही किस्म का साहित्य पढ़ने वाले बालकों में तीन प्रकार के लेखक नजर आते हैं।

❑

इस प्रकार की भिन्नता अर्थात् रुचिभिन्नता, अर्थात् जीवन-विकास की भिन्नता! लेखकों के ये प्रकार यह सुनिश्चित करते हैं कि अपने आंतरिक विकास के लिए लेखन के कौनसे प्रकार उनके अपने प्रकार हैं। इन्हीं के अनुसार वे अपनी साहित्य सर्जना करते हैं। कोई नया नमूना गढ़ा नहीं जा सकता, कदाचित गढ़ने का प्रयत्न किया जाए तो नया नमूना बनाया नहीं जा सकता, बल्कि पुराना टूट जाता है।

❑❑